57.
3436

विक्रमादित्य और उनके नवरत्न

B436

विक्रमादित्य और उनके नवरत्न

DE PAUL SCHOOL
3136
LIBRARY
YA NAGAR

विक्रमादित्य और उनके नवरत्न

PAUL SCHOOL
3436
LIBRARY
NAGAR

गौरीशंकर पंड्या

आर्य प्रकाशन मण्डल दिल्ली-31

© प्रकाशक

प्रकाशक : आर्य प्रकाशन मण्डल
IX/221, सरस्वती भंडार,
गांधीनगर, दिल्ली-110031

संस्करण : 1996

मूल्य : दस रूपये

मुद्रक : बालाजी ऑफसेट
एम.-28, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

Vikramaditya Aur Unke Navratna (Hindi)
by Gauri Shanker Pandya Price Rs. 10.00

DE PAUL SCHOOL
3434
LIBRARY
VIDHYA NAGAR

क्रम

सम्राट् विक्रमादित्य	○	७
महाकवि कालिदास	○	१६
ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर	○	३८
धन्वन्तरि	○	५१
क्षपणक	○	५३
अमरसिंह	○	५४
शंकु	○	५६
वेताल भट्ट	○	५७
घटखर्पर	○	५८
वररुचि	○	६०

सम्राट विक्रमादित्य

भारतीय इतिहास और साहित्य-सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों के गहन अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि लोक-गाथाओं के नरेश विक्रमादित्य एक ही व्यक्ति नहीं थे। वास्तव में विक्रमादित्य एक उपाधि थी, जो प्राचीन भारत में वीर योद्धा तथा परम विद्वान् राजाओं में प्रयुक्त की जाती थी।

विक्रमादित्य को, विक्रम संवत् का प्रवर्तक और विदेशी शक आक्रमणकारियों को पराजित करने वाले वीर योद्धा, धर्मात्मा, उदार, परम विद्वान् और महाकवि कालिदास के आश्रयदाता के रूप में ग्रन्थों तथा किम्वदन्तियों में वर्णित किया गया है।

यह प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य है कि एक विक्रमादित्य उपाधिधारी राजा उज्जयिनी (उज्जैन) के शासक थे और उनका राजत्वकाल भारत का स्वर्णकाल माना जाता है। उस काल में वीरता, विद्या, कला, साहित्य, संस्कृति तथा धन-धान्य और सम्पन्नता की दृष्टि से भारत उन्नति के चरम शिखर पर था।

यद्यपि विक्रमादित्य के उल्लिखित नवरत्नों का एक ही समय में होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी अपनी असामान्य प्रतिभा के कारण विक्रमादित्य जैसे गुणग्राहक

तथा विद्याप्रेमी नरेश की सुसंस्कृत अभिरुचि के अनुकूल ही श्रेष्ठ श्रेणी के नवरत्न थे। हमारे देश का सांस्कृतिक क्षेत्र में इनका स्थान सदैव गौरवपूर्ण रहेगा।

प्रचलित किम्वदन्ती के अनुसार उज्जयिनी के महाराज विक्रमादित्य केवल वीर योद्धा ही नहीं, अपितु परम उदार, विद्या-व्यसनी, दानी, न्यायप्रिय तथा विद्वानों का सम्मान करने वाले लोकप्रिय शासक थे। उनके नवरत्नों के विषय में भारतीय साहित्य में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। इनसे प्रकट है कि उस काल में उज्जैन संस्कृत शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था। वह मालवा की सुन्दर वैभव-सम्पन्न राजधानी—उन्नत कला, संस्कृति, साहित्य, विज्ञान, शिल्प, कृषि तथा उद्योग-धन्धों में समृद्धिशाली थी।

उनकी सभा में कई विद्वान् थे, जिनमें नव उद्‌भट पंडितों को नवरत्न का सम्मान प्राप्त था। कालिदास-रचित 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ग्रन्थ के प्रसिद्ध निम्नांकित श्लोक में इन नवरत्नों का नाम-निर्देश इस प्रकार किया गया है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु ।
वेतालभट्ट घटखर्परकालिदासाः ।।

अर्थात् विक्रमादित्य की सभा में (१) धन्वन्तरि, (२) क्षपणक, (३) अमरसिंह, (४) शंकु, (५) वेताल भट्ट (६) घटखर्पर (७) कालिदास, (८) वराहमिहिर और (९) वररुचि थे।

उक्त नर-रत्नों में भी महाकवि कालिदास और वराहमिहिर का विशिष्ट स्थान है।

'विक्रम' उपाधि की परम्परा

भारतीय इतिहास का सम्यक् पर्यवेक्षण करने से पता चलता है कि 'विक्रमादित्यों की परम्परा' ऐसे जननायकों की रही है,

जिनका उद्देश्य भारत से विदेशी सत्ता के विरुद्ध युद्ध करने से अवश्य रहा है। इन्होंने देश से विदेशी सत्ता के निष्कासन का प्रयास किया था। ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा यह प्रमाणित है कि जिस किसी भी भारतीय राजा ने इस विरुद को धारण किया है, उसका सम्बन्ध स्वदेश में, विदेशी सत्ता के विरुद्ध युद्ध करने से अवश्य रहा है। यह सम्भव है कि किसी जननायक ने इस प्रकार के आन्दोलन में योग देकर भी यह विरुद धारण न किया हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विरुद धारण करने वालों में से सम्भवतः ऐसा कोई भी नहीं है, जिसने इस राष्ट्रीय यज्ञ में योग न दिया हो।

भारतीय इतिहास में इस प्रकार के पांच विक्रमादित्य मिलते हैं—

१. विक्रम (आदि विक्रमादित्य) विक्रम-संवत् के प्रतिष्ठाता

२. चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य (गुप्तवंशीय सन् ३७५ ई० ४१४ तक)

३. स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (४५५ ई० से ४६७ ई० तक)

४. मालव-सम्राट् यशोवर्मन (सन् ५३२-३३ ई० के लगभग)

५. रेवाड़ी का हेमचन्द्र विक्रमादित्य (सन् १५२६ ई० के लगभग)

इन विक्रमादित्यों में से प्रथम की काल-गणना का ज्ञान केवल विक्रम-संवत् के कारण ही सम्भव हुआ है, क्योंकि इसका इतिवृत्त बहुत कुछ अस्पष्ट और धूमाच्छादित है। शेष चारों विक्रमादित्यों का अस्तित्व भारतीय इतिहास के पृष्ठों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से सुरक्षित है। फिर भी किस विक्रमादित्य ने संवत् प्रवर्तन किया, यह अनुसन्धान का विषय है। विविध विक्रमादित्यों का अस्तित्व ही इन भ्रान्तियों का कारण बनता है और इसी

कारण इस विषय की खोज आवश्यक समझी जाती है।

सन् ७८ ई० के गुणाढ्य-कृत 'वृहत्कथा' पर आधारित 'कथासरित्सागर' में उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य का उल्लेख है।

राज्याभिषेक

(कथासरित्सागर २८-५९, ६०, ६१) परमारवंशीय सम्राट् महेन्द्रादित्य का पुत्र विक्रमादित्य था, जो उज्जयिनी का विश्वविख्यात राजा था। प्रथम शताब्दी के ग्रन्थ 'गाथा सप्तशती' में भी इसी विक्रमादित्य का उल्लेख है (गाथा ५-६४)। अपनी न्यायप्रियता, पराक्रम, ज्ञान आदि के क्षेत्र में यही विक्रमादित्य अग्रगण्य था, जिसने शकों को पराजित कर उसी विजयोत्सव के उपलक्ष्य में 'विक्रमी संवत्' का प्रवर्तन ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में किया।

शकों का उल्लेख ई० पू० प्रथम शताब्दी में क्रूरतम आक्रामकों के रूप में किया गया है। पंजाब के शक राजा भवेज (प्रथम शताब्दी ई० पू०) के शिलालेखों, सिक्कों से ज्ञात होता है कि किन-किन क्षेत्रों पर उनका आधिपत्य था। 'गर्गसंहिता' तथा 'युगपुराण' के वर्णन से ज्ञात होता है कि कितनी निर्ममतापूर्वक शक अपने राज्य के विस्तार में तल्लीन थे। गर्गाचार्य ने जैसा उनकी क्रूरता का हृदय-विदारक वर्णन किया है, उससे स्पष्ट होता है कि उस समय शकों को पराजित करना कितना आवश्यक था। 'अम्लात' शकाधिपति की निर्मम नीचता अवर्णनीय है। पाटलिपुत्र पर उसका आक्रमण तथा आर्यों की संस्कृति को नष्ट करने का उनका विनाशकारी कृत्य 'गर्गसंहिता' से स्पष्ट होता है।

तत्कालीन परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक

था कि विक्रमादित्य शकों का विनाश कर शकारि की उपाधि धारण करें। शकों का समूल विनाश कर उसी खुशी में नये संवत् का प्रवर्तन हुआ। मालवाधीश विक्रमादित्य की जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रतीक इस संवत्सर को सर्वप्रथम 'मालव संवत्' 'मालवगणस्थिति' आदि नामों से संबोधित किया गया। मालवगण के सैकड़ों सिक्के राजस्थान के 'नागर' नामक ग्राम में प्राप्त हुए हैं, जिन पर 'मालवानांजय', 'मालवगणस्य जय' आदि शब्द अंकित हैं।

'विक्रम संवत्' और 'कालव संवत्' पर्यायवाची हैं। वैसे सर्वप्रथम नवीं शताब्दी में विक्रमी संवत् का नाम आया है, जो विक्रमादित्य के लिए ही प्रयुक्त किया गया है।

कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१३) ई० से जोड़ते हैं, जो यथार्थता से बहुत दूर है उसने और अन्यान्य परवर्ती राजाओं ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की, न कि संवत् प्रवर्तन (विक्रमी) किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्दगुप्त प्रथम ने अपने राज्याभिषेक के समय ३२० ई० में 'गुप्त संवत्' प्रचारित किया। स्कन्दगुप्त के गिरनारवाले लेख में भी (गुप्त प्रकाले गणना विधाय अर्थात् गुप्त संवत् का ही प्रयोग है न कि विक्रम संवत् का। अत किसी भी रूप में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को विक्रम संवत् का प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने शकवंशीय क्षत्रपों पर ३९० ई० में विजय प्राप्त की जब कि इसके बहुत पहले अर्थात् प्रथम शताब्दी पूर्व ही अवन्तिकाधीश विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर स्वयं व 'शकारि' कहलाया। इस विषय में पं० बलदेव उपाध्याय का म विचारणीय है—पूर्वकाल में मालवगणों का प्रभुत्व था। यह जाि सिकन्दर से पराजित होकर राजस्थान की ओर आयी तथ

मालवा में इसने अपना पुनः प्रभुत्व जमाया। इस अवधि में इसे लगभग २०० वर्ष व्यतीत हो गये। इस गणराज्य के मुखिया विक्रमादित्य थे। उन्होंने ही युद्ध में शकों को पराजित किया तथा विजय के उल्लास में नवीन संवत् चालू किया। गणराज्य में किसी व्यक्ति की नहीं, अपितु समष्टि की प्रमुखता रहती है। अतएव उक्त संवत् 'मालव संवत्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं विक्रमादित्य के सभापंडित कालिदास थे, जिनका कार्यकाल (५७ वर्ष ई० पू०) था।

संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य ई० पू० प्रथम शताब्दी के महान् शासक थे। इस मत की पुष्टि-हेतु निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत हैं—

मेरुतुंगाचार्य कृत 'पद्यावलि' में बताया गया है कि उज्जयिनी नरेश ने शकों को पराजित किया था। यह घटना अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के ४७०वें वर्ष की है। महावीर का निर्वाण ५२७ ई० पू० हुआ था। इस प्रकार ५२७-४७०-५७ ई० पू० विक्रमादित्य का काल ठहरता है। 'प्रबन्ध कोश' और 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' से भी उक्त विषय की पुष्टि होती है।

'शतपथ ब्राह्मण' के भाष्यकार हरि स्वामी विक्रमादित्य के मुख्य न्यायाधीश थे। उन्होंने लिखा है—"धर्माध्यक्षो हरिः स्वामी व्याख्यात शातपथी श्रुतिम"—अर्थात् विक्रमादित्य प्रथम शताब्दी पूर्व ही थे, जिन्होंने विक्रम संवत् चलाया।

चन्दवरदाई ने 'पृथ्वीराज-रासो' में लिखा है कि पांडवों के ३६वें वंशधर पर कुमाऊं के राजा कुलवंत ने चढ़ाई कर दी। उस समय उसकी सहायता करने विक्रमादित्य गया था। पांडवों में श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर की मृत्यु ३०७६ ई० पू० में हुई थी। 'वराहमिहिर संहिता' में बताया गया है कि शक संवत् और युधिष्ठिर के संवत् में लगभग २५२६ वर्ष का अन्तर है। वराहमिहिर ने जो विक्रमादित्य के सभासद् थे, 'पंच

सिद्धान्तिका' की रचना शक संवत् ४२७ में पूर्ण की थी। इस प्रकार ३०७६-२५२६-५५० ई० पू० ५५०-४२७-१२३ ई० पू० के आसपास का समय वराहमिहिर का ठहरता है।

श्री पी० एन० ओक ने लिखा है कि तुर्की के प्रसिद्ध इस्तम्बुल संग्रहालय में 'शायर उल आकुल' नामक प्राचीन ग्रन्थ सुरक्षित है। इस 'शायर उल आकुल' के पृष्ठ ३१५ पर विक्रमादित्य की गरिमा का गान किया गया है। इसी बात को प्रेमचन्द शास्त्री ने भी स्वीकार कर लिया है। इन समस्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य, जो ई० पू० प्रथम शताब्दी के शासक थे, ने शकों पर विजय के उपलक्ष्य में ही विक्रम संवत् का सूत्रपात किया।

विक्रम संवत् का प्रारम्भिक नाम 'कृत संवत्' था। यह नाम तीसरी से पांचवीं शताब्दी तक प्राप्त होता है, जो शिलालेखों और नामपत्रों पर अंकित मिलता है। इसके बाद पांचवीं से आठवीं शताब्दी तक के अभिलेखों में 'मालवेश', 'मालवगण स्थिति' तथा 'मालव स्थिति' तथा 'मालव संवत्' के नाम के मिलते हैं। नवीं शताब्दी में विक्रम संवत् विशेष विस्तार के साथ पाया जाता है। यह भी शिलालेखों और पत्रों में। इन्हीं सब घटनाओं के संदर्भ में कृतयुग (सतयुग) की घटनाएं सम्बन्धित विष्णु के समान ही पराक्रमी, न्यायी, जनप्रिय शासक के रूप में विक्रमादित्य (ई० पू०) ने शकों को पराजित किया और इस उपाधि को ग्रहण कर 'विक्रम संवत्' का सूत्रपात किया जो उज्जयिनी का सम्राट् था। उस काल के समाप्त होने पर फिर यह 'मालव संवत्' कहा जाने लगा। समयानुसार देश में परिवर्तन होता रहा और अंततः यही यथार्थता है कि ई० पू० ५७ वर्ष के अवन्तिकाधीश विक्रमादित्य शकारि द्वारा ही 'विक्रम संवत्' प्रचलित हुआ।

विक्रमादित्य की विजय-पताका अरब देशों तक फहराया करती थी। वे भारत से अरब देशों में धर्म-प्रचारक भेजा करते थे, जिन्होंने वहां जाकर भारतीय धर्म एवं संस्कृति का प्रचार किया। इसी कारण अरबवासी विक्रमादित्य को देवता तुल्य मानने लगे थे; क्योंकि भारतीय धर्म एवं संस्कृति ने उनको प्रभावित कर लिया था। अब भी अरब देशों में भारतीय धर्म और संस्कृति के अवशेष विद्यमान हैं। काबा में सबसे अधिक पूज्य मूर्ति शिवलिंग का ही प्रतीक है। सम्राट् विक्रमादित्य के धार्मिक एवं सांस्कृतिक दूतों ने अरब में उज्जैन के शिव मन्दिर के आधार पर एक शिव-मन्दिर का भी निर्माण कराया था, जिसमें अब भी उक्त शिवलिंग प्रतिष्ठित है।

काबा में पहले शनि एवं चन्द्र की भी एक-एक मूर्ति थी तथा श्वेत चादर धारण कर काबा की सात परिक्रमाएं करने का प्रचलन भी विक्रमादित्य के शासन-काल से ही चला आ रहा है, जो मूल रूप से एक हिन्दू-पद्धति है। स्मरण रहे कि अरबी का 'अल्ला' शब्द भी संस्कृत के 'अक्का' एवं 'अम्बा' शब्द का ही पर्यायवाची है। 'अल्ला' या अल्लाह शब्द 'दुर्गाचण्डी' में भी विद्यमान है।

हजरत मुहम्मद से १६५ वर्ष पूर्व अरब के सुप्रसिद्ध कवि 'जिन रहमान बिन तोई' ने विक्रमादित्य की स्तुति में एक लम्बी कविता लिखी थी, जिसका हिन्दी रूपान्तर निम्न है—

"वे व्यक्ति वास्तव में भाग्यशाली हैं, जो सम्राट् विक्रमादित्य के शासनकाल में पैदा हुए और रहे भी हैं। वह एक सज्जन, उदार एवं कर्त्तव्यपरायण समाट् थे और अपनी प्रजा के कल्याण के प्रबल इच्छुक भी थे। उस समय हम सब अरबवासी परमात्मा का विस्मरण कर विषय-वासनाओं में खोये हुए थे। हममें आपसी षड्यंत्र एवं अत्याचार का बोलबाला था।

अज्ञान का अन्धकार हमारे देश पर आच्छादित था और हम ठीक उसी तरह अज्ञान के शिकंजे में जकड़े हुए थे, जिस प्रकार भेड़िए के निर्दयी शिकंजे में भेड़ का बच्चा जकड़ा हुआ अपनी प्राणरक्षा के लिए छटपटाता रहता है। उस समय ज्ञान एवं विद्या के सूर्योदय की धूप इसी सज्जन सम्राट् विक्रमादित्य की देन है। उनका संरक्षण हम विदेशियों को भी प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने पवित्र धर्म का प्रकाश यहां फैलाया। अपने देश से विद्वानों को भेजकर, जिनकी प्रतिभा हमारे देश में सूर्य की तरह चमकी, हमें इसी सम्राट् ने सभ्य बनाया। ये विद्वान् हमारे देश में अपने देश का धर्म एवं सत्य का प्रकाश फैलाने आये और इन्हीं की महान् अनुकम्पा से हम पुनः ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव कर सत्य के मार्ग का अनुसरण कर सके।"

स्वर्ण-पट पर अंकित उक्त मूल कविता काबा के अन्दर लटकी रहती थी, क्योंकि तब वहां ऐसा नियम था कि महत्त्व-पूर्ण वाक्यों और कविताओं को स्वर्ण-पट पर अंकित कर तथा कम महत्त्वपूर्ण वाक्यों एवं कविताओं को ऊंट या बकरी के चर्म पर अंकित कर काबा के अन्दर लटका दिया जाता था। उपर्युक्त मूल कविता 'शायर-उल-आकुल' नामक पुस्तक के पृष्ठ तीन से पांच तक विवरण सहित लिपिबद्ध भी की गयी थी। इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।

इतिहासकारों के अनुसार विक्रमादित्य ने अरब देशों पर अधिकार कर विजय-प्रतीक के रूप में कुतुबमीनार का निर्माण कराया था। जिस खुदे लेख के अनुसार इस स्तम्भ के निर्माता विजेता शासक ने बलख देश की पुत्री से विवाह किया था। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि विक्रमादित्य ने अरब देशों को बलख साम्राज्य से युद्ध कर ही हस्तगत किया था।

कुछ विद्वानों के अनुसार विक्रमादित्य नाम का कोई भी शासक किसी भी काल में नहीं हुआ, पर वैसे ही लोककथाओं में, जनश्रुतियों में विक्रमादित्य का नाम आता है। इसे कुछ विद्वान् एक काल्पनिक पात्र मानते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। हां, यह अवश्य सत्य है कि विक्रमादित्य कोई नाम नहीं, बल्कि एक उपाधि है।

धार्मिक जनश्रुतियों एवं लोककथाओं में विक्रमादित्य नाम प्रचुर मात्रा में मिलता है। भारत के आदि ग्रन्थों में तो यह नाम इतना अधिक मिलता है कि विक्रमादित्य के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। गाथा सतसई (सातवाहन नरेश हाल कृत), वृहत् कथा (गुणाढ्यकृत), 'कथासरित्सागर', 'भोज प्रवन्ध', 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'विक्रम चरित', राज-तरंगिणी', वेतालपंचविंशतिको' (वेताल पच्चीसी), 'द्वात्रिंशति पुत्तलिका सिंहासन' (सिंहासन बत्तीसी), 'कालकाचार्य कथा' मृच्छकटिक नाटक, शूद्रक कथा, कादम्बरी (बाणभट्ट रचित) आदि ग्रन्थों में तो विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता ही है, परन्तु फरिश्ता, अबुलफजल, अलबेरूनी आदि ने भी विक्रमादित्य का अपने-अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है।

विक्रम संवत् के महीनों में विभिन्नता

विक्रम संवत् के महीनों में विभिन्नता है। उत्तरी भारत में महीनों का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष की १ को और अन्त शुक्ल पक्ष की १५ को होता है। परन्तु दक्षिण भारत में महीनों का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष की १ को और अन्त कृष्ण पक्ष की ३० को होता है। इसीलिए उत्तर में विक्रम संवत् के महीने पूर्णिमान्त और दक्षिण में अमान्त कहलाते हैं। इससे यद्यपि उत्तर और दक्षिण में प्रत्येक मास का शुक्ल पक्ष तो एक ही रहता है, तथापि उत्तरी

भारत का कृष्ण पक्ष दक्षिणी भारत के कृष्ण पक्ष से एक मास पूर्व होता है, अर्थात् जब हमारा वैशाख कृष्ण होता है तो दक्षिण वालों का चैत्र कृष्ण समझा जाता है, परन्तु उनका महीना शुक्ल पक्ष की १ से प्रारम्भ होने के कारण शुक्ल पक्ष में दोनों का वैशाख शुक्ल हो जाता है।

पहले काठियावाड़, गुजरात और राजस्थान के कुछ भागों में इस संवत् का प्रारम्भ आषाढ़ शुक्ल १ से भी माना जाता था। जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होगा।

अड़ालिज (अहमदाबाद) से मिले लेख में लिखा है—

"श्रीमन्नृप विक्रम समयातीत आषाढ़ादि संवत् १६५५ शाके १४२० माघ मासे पंचन्यां।"

इसी प्रकार डूंगरपुर डेसा गांव के पास से मिले हुए लेख में लिखा हुआ है—

"श्रीमन्नृप विक्रमार्क राज्य समयातीत संवत् १६ आषाढ़ादि २३ वर्षे (१६२३) शाके १४८८।"

अब भी राजस्थान के जोधपुर आदि में व्यापारी लोग इस संवत् का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा १ से मानते हैं।

विक्रम के नवरत्न

विक्रमादित्य के सौभाग्य से उसकी कीर्ति केवल शकों के पराजयरूपी एक स्तम्भ पर ही आधारित नहीं थी, वरन् उसको नवरत्नों के नौ स्तम्भों का सुदृढ़ आधार भी प्राप्त था। सम्भव है कि उनमें के कुछ खम्भे ढीले-ढाले या अशक्त हों और कुछ पीछे से सहारा देने के रूप में लगाये गये हों, किन्तु उनमें के दो स्तम्भ तो इतने दृढ़ थे कि वे दो हजार वर्ष से अधिक समय तक टक्कर झेलकर भी उसी रूप में अविचल खड़े हुए हैं। आगे भी वे इसी रूप में धीर-गम्भीर खड़े रहेंगे। इन्हीं दो स्तम्भों के

गम्भीर एवं पुष्ट आधार के कारण विक्रमादित्य का कीर्ति-मंदिर काल के प्रबल प्रवाह में अडिग खड़ा हुआ है। वे दो स्तम्भ हैं—संस्कृत के महाकवि और नाटककार कालिदास और दूसरे हैं—आद्य सूर्य-सिद्धान्त के निर्माता परम विद्वान् ज्योतिषाचार्य, जिनका नाम अज्ञात है।

कालिदास विक्रमादित्य का समकालीन कवि है और उसने अपने काव्य में विक्रमादित्य के यश-वैभव का वर्णन करके उसे चिरन्तन बना दिया है, किन्तु वराहमिहिर नाम का जो ज्योतिषी विक्रम के पांच-छह सौ वर्ष बाद हुआ है, नवरत्नों की इस सूची में कैसे आ गया? इसका स्पष्टीकरण इस रूप में हो सकता है कि विक्रम के आश्रय में एक निष्णात ज्योतिषी था और उसी ने विक्रम के आदेश से 'आद्य सूर्य-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ की रचना की और साठ संवत्सरों का चक्र बनाकर विक्रम संवत् का आरम्भ कार्तिक से शुरू कर दिया। किन्तु उसने अपने ग्रन्थ में कहीं भी अपना नाम नहीं दिया। फिर कालान्तर में वह प्राचीन ग्रन्थ अलभ्य हो गया। उस दशा में वराहमिहिर ने उस प्राचीन विद्या को लुप्त न होने देने के उद्देश्य से पितामह, वशिष्ठ, पुलिन, सूर्य-सिद्धान्त और रोमक-सिद्धान्त—इन पांचों सिद्धान्तों के जितने अवशिष्ट भाग उपलब्ध हो सके, उन्हें एकत्र करके 'पंच-सिद्धान्तिका' नामक ग्रन्थ बनाया। इसमें जो सूर्य-सिद्धान्त है, वह विक्रम के समय का ही है। केवल इसी आधार पर से कालान्तर में पंचसिद्धान्तिका के रचयिता वराहमिहिर को ही विक्रमादित्य की राजसभा का ज्योतिषी मानकर इतिहास के तथ्यों से किसी अनजान कवि ने अपने श्लोक में उसका नाम जोड़ दिया है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ज्योतिष के वैज्ञानिक क्षेत्र में वराहमिहिर का स्थान अत्यन्त उच्च एवं महत्त्वपूर्ण है।

महाकवि कालिदास

महाकवि कालिदास हमारे देश के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कृतियां भारतीय साहित्य की ही नहीं, किन्तु विश्व-साहित्य की अमर निधि हैं। सुषमामयी प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य के आराधक, मां सरस्वती के इस वरद पुत्र ने अपनी कृतियों में यथार्थ और आदर्श का अद्‌भुत समन्वय प्रस्तुत किया है। प्रकृति-वर्णन और मानव के आंतरिक भावों के निरूपण में कालिदास जिन ऊंचाइयों तक पहुंचे, वे युगयुगान्तर तक आकर्षण का प्रतीक बनी रहेंगी।

यों तो कालिदास एक युग-प्रवर्तक और महान् कलाकार थे, कोमलकान्त पदावली के सिद्धहस्त शिल्पी थे, प्रकृति तथा मानव-सौन्दर्य के एकनिष्ठ पुजारी थे, किन्तु पाया जाता है कि उन्होंने सूक्ष्मदृष्टि से तत्कालीन जन-जीवन को भी देखा—एक व्यापक दृष्टिकोण से उसकी समीक्षा की। कालिदास की रचनाओं में केवल देवी-देवताओं का अथवा राजा-रानियों का ही वर्णन नहीं है, उनमें समाज के प्रत्येक स्तर का चित्रण पाया जाता है। प्रादेशिकता उन्हें छू तक नहीं गई थी। रघु की दिग्विजय के बहाने उन्होंने हिमालय से कन्याकुमारी तक समस्त भारतखण्ड का वर्णन किया है। 'मेघदूत' के मेघ के साथ हम समस्त उत्तर

भारत की यात्रा करते हैं। इस यात्रा में जन-जीवन के प्रत्येक पहलू पर अपने आकाश-स्थित आसन से विहंगम दृष्टि डालने में समर्थ होते हैं। 'ऋतु-संहार' की सुन्दर पंक्तियों में हमें तत्कालीन भारतीय जनता के आहार-विहार, आमोद-प्रमोद तथा रूप-यौवन की बारहमासी झांकी मिलती है। 'शकुंतला' तथा 'मालविकाग्निमित्र' में भी हमें जन-जीवन की झांकियां मिलती हैं।

उन्होंने अधिक नहीं लिखा। लिखे केवल तीन नाटक और चार काव्य। भारतीय संस्कृति और जीवन को पृष्ठभूमि बनाकर इन सात साहित्यिक कृतियों में ही अपनी कल्पना, प्रतिभा और काव्य-सौष्ठव के बल पर वे विश्वकवि कहलाने को अधिकारी बन गये। ऐसे विश्वकवि, जो जीवन की पहेलियों को सुलझाते हैं और आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रकाश-स्तम्भ की तरह चमकते रहते हैं।

चरित्र

कालिदास के चरित्र को लेकर अधिकांश अविश्वस्त लोक-कथाएं प्रचलित हैं। कोई निश्चित विचार प्राप्त नहीं होता। उनके जन्म-स्थान का विषय विद्वानों में विवादास्पद ही रहा है। कुछ लोग उनका जन्म-स्थान बंगाल को बतलाते हैं। कुछ विवेचक उन्हें काश्मीर का निवासी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। कालिदास का जन्म-स्थान विदिशा को भी बतलाया जाता है। यह विश्वास भी किया जाता है कि वे उज्जैन में ही पैदा हुए थे, किन्तु निश्चित प्रमाण के अभाव में इस पर विचार करना सम्भव नहीं।

यद्यपि कालिदास कहीं भी उत्पन्न हुए हों, किन्तु इतना अवश्य है कि उनका हृदय उज्जयिनी के साथ एकाकार हो गया

था। ऐसे महाकवि को कौन नहीं अपनाना चाहेगा, किन्तु वस्तुतः उनका व्यक्तित्व और कृतित्व, भारत की सीमाओं को ही पार कर गया है।

एक प्रचलित दंतकथा के अनुसार कालिदास अपनी आरंभिक अवस्था में चरानेवालों के बीच पोषित हुए थे। तदुपरान्त विद्याध्ययन कर कवि एवं नाटककार बने। कालिदास के वैवाहिक जीवन के विषय में कुछ पता नहीं मिलता। राजकुमारी से उनका विवाह हुआ था। यह दंतकथा सम्भव है—सच भी हो सकती है।

श्रीलंका की कथाओं में प्रसिद्ध है कि वहां के प्रसिद्ध शासक कुमारदास (कुमार धातुसेन) ने कालिदास को अपने यहां बुलाया था और वहां जाने पर कालिदास और कुमारदास की आपस में घनिष्ट मैत्री हो गई थी। कुछ समय बाद वहीं पर कालिदास की मृत्यु हुई।

कालिदास का समय

कालिदास कब हुए, यह एक समस्या है, किन्तु उनकी कृतियों के आभ्यन्तर और बाह्य प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वे गुप्तकालीन थे। इस तिथिकाल को प्रमाणित करने में जो तर्क सहायक होते हैं, वे निम्न हैं—

कालिदास काल की दो सीमाएं सरलता से निश्चित की जा सकती हैं। उनकी प्राचीनतम सीमा तो कवि के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से स्थिर हो जाती है, क्योंकि इसमें शुंगवंश के प्रतिष्ठापक सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र और उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के शासक अग्निमित्र का वर्णन है। पुष्यमित्र का शासन-काल सम्वत् ई० पू० १४८ तक समाप्त हो चुका था। इस कारण चूंकि कालिदास ने उसके पुत्र अग्निमित्र के

अन्तःपुर का वर्णन किया है, वह ई० पू० १४८ के पूर्व नहीं रखे जा सकते।

कालिदास के समय के सम्बन्ध में वड़ा मतभेद रहा है। विद्वानों ने उसका समय दूसरी शती ई० पू० (पुष्यमित्र शुंग के पुत्र अग्निमित्र का समकालीन) से लेकर छठी ई० सन् तक आंका है। परन्तु महाकवि के काव्यों और नाटकों की आन्तरिक सामग्री गुप्तकालीन काव्यधारा, मुद्रा-अभिलेख, संस्कृति आदि सभी पुकारकर, कालिदास का रचनाकाल चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समीपवर्ती ही घोषित करते हैं।

कालिदास के विषय में एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि उनकी कवित्व-शक्ति जब विकसित हो गयी होगी, तब वे राज्य के आश्रित हो गये होंगे। उनके ग्रन्थों से स्पष्ट विदित होता है कि उनके जीवन का अधिकांश भाग राज-परिवार के निकट व्यतीत हुआ है। राजवंश के विविध व्यक्ति, वहां के आचार-व्यवहार, दरबारियों के रहन-सहन आदि का प्रत्यक्ष परिचय नाटककार कालिदास को अवश्य हैं। इससे कालिदास के विक्रमादित्य-कालीन होने का समर्थन ही होता है।

कालिदास के ग्रन्थों में देश और समाज की राजनीतिक शान्ति और आर्थिक समृद्धि पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। ऐसा वैभव का जीवन, ललितकला और साहित्य का व्यसन तथा जनता का सामाजिक और आर्थिक ऐश्वर्य पूर्णतया संरक्षित, पालित और वद्धित सुशासन में ही सम्भव है। इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास का काल वैभवपूर्ण और प्रजावत्सल शासन का है। यह अवस्था उस काल में गुप्त शासनकाल की ही थी।

गुप्तों की धार्मिक सहिष्णुता, जो सम्राटों के अभिलेखों से ज्ञात होती है और जो चीनी यात्री फाह्यान द्वारा वर्णित है,

कालिदास के ग्रन्थों द्वारा पूर्णतया समर्पित है। वे पौराणिक ख्यातियां और जन-विश्वास, जिनके संदर्भ कालिदास में भरे पड़े हैं, गुप्तकाल में ही संकलित हुए थे।

कालिदास को ग्रीक-ज्योतिष के लाक्षणिक शब्द 'जामित्र' (Dismetron) का ज्ञान है। इसलिए इस कवि को गुप्तकाल में ही होना चाहिए, ताकि देश में ग्रीक ज्योतिष शब्दों के प्रथम परिचित होने तथा फिर पूर्णतया प्रचारित होने को पूरा अवकाश मिल सके।

कालिदास के ग्रन्थ

अनुश्रुति के अनुसार कालिदास अनेक ग्रन्थों के रचयिता हैं—लगभग बीस के, जिनमें व्याकरण और ज्योतिष तक के ग्रन्थ हैं। परन्तु वास्तव में जैसा कि उनके ग्रन्थों और अन्य प्रमाणों से जान पड़ता है, इन उपलब्ध कृतियों में केवल सात ही उनकी हैं। इनमें से चार तो काव्य तथा शेष तीन नाटक हैं ! काव्य हैं—(१) 'ऋतुसंहार', (२) 'मेघदूत', (३) 'कुमार-संभव और (४) 'रघुवंश'। नाटकों में—(१) 'मालविकाग्नि-मित्र', (२) विक्रमोर्वशी और (३) 'अभिज्ञान शाकुन्तल'।

ऋतुसंहार

'ऋतुसंहार' (काव्य) का प्रतिपाद्य विषय 'ऋतुओं का वर्णन' है। 'संहार' का अर्थ है समाहार, समूह। सुन्दर, अकृत्रिम; सरल भाषा और वैदर्भी शैली में कालिदास ने षड्ऋतुओं का वर्णन किया है। प्रत्येक ऋतु की विशेषताएं बड़ी मार्मिक भाषा और आडम्बरशून्य शैली में कही गई हैं। वर्णन-शैली अत्यन्त मृदुल है।

इस कृति में कवि, मानव का वनस्पतियों से भावी प्रत्यक्ष

सम्पर्क स्थापित कर देता है। कालिदास की प्रत्येक कृति में, विशेषकर इस 'ऋतुसंहार' में मनुष्य का मानो पेड़-पौधों से एका हो गया है। एक जैसे दूसरे को समझता है, उससे कहता-सुनता, रोता-गाता है। इसकी विशिष्ट बात यह है कि इसमें मानव-पात्र नहीं हैं। केवल ऋतुओं का ही वर्णन है और जहां प्राणी का किसी प्रकार का वर्णन आता है, वह ऋतु के ही प्रभाव को दर्शाने के लिए। वास्तविक प्रकृति के ऊपर 'ऋतु-संहार' संसार का आदिकाव्य है। वैसे प्रकृति से मानव-सम्बन्ध स्थापित करनेवाली परम्परा और प्राचीन है। उसके प्रवर्तक बाल्मीकि हैं। मानव-प्रेम के संकल्प-विकल्प, यौवन के उल्लास-विलास, नवोढ़ा के मान-शृंगार किस प्रकार इन ऋतुओं के संपर्क से परिवर्तित होते रहते हैं, यह कालिदास ने हृदयस्पर्शी अनुभूति के साथ व्यक्त किया है।

ग्रीष्मकाल के दिवस दाहक होते हैं, किन्तु उसकी रात मुकुर-प्रसन्न होती है, जिसमें चन्द्रमा अम्लान शीतल हो अपनी सुधा से भूमि को सींचता है। निशीथ में स्नेह-स्निग्ध नर-नारी, नृत्य-गान और आसव से झूमते हैं और चन्द्र प्रणय की ईर्ष्या से तिरोहित हो जाता है। पावस नृपति के परिच्छद लिए आता है, मेघ उसके गज हैं, चपला उसकी ध्वजा है, उसका गर्जन ही उसकी दुंदुभी है। पर्वत-शिखरों को चूमते मेघों के दर्शन से भाव खिल उठते हैं और प्रेम जाग उठता है। शरत् नववधू की भांति प्रफुल्ल पद्ममुखमंडल लिये, इक्षु का वसन पहने, परिपक्व धान्य की मेखला धारण किये आता है और शिशिर प्रेमियों के आलिंगन को अधिकाधिक प्रगाढ़ कर देता है। हेमन्त की रात्रि ठंडी होती है, चन्द्रमा शीतल होता है। प्रणयी वातायन बन्द कर लेते हैं, भारी वस्त्रों से अंग ढंकते हैं और मरीचिमाली की एक-एक रश्मि से शरीर सेंकते हैं, परन्तु वसन्त उनके सारे

उपालम्भ मिटा देता है। वह प्राणियों और प्रकृति में नवजीवन, नव-आह्लाद और नवीन स्फूर्ति भरता है।

'ऋतुसंहार' ग्रीष्म से आरम्भ होकर वसन्त में समाप्त होता है, जिसमें नव-वर्ष का जन्म होता है और तरुण-तरुणी प्रणय की सौगन्ध लेते हैं, आह्लाद के गीत गाते हैं। 'ऋतुसंहार' कालिदास की अप्रौढ़ आरम्भिक कृति होते हुए भी एक सुकुमार सुरुचि की रचना है।

मेघदूत

'मेघदूत' कालिदास की परिपक्व प्रतिभा का काव्य है। इस सारे काव्य में केवल एक छन्द 'मन्दाक्रान्ता' का प्रयोग हुआ है और उसे कवि ने अद्भुत क्षमता से निबाहा है। निस्सन्देह इस काव्य और इसमें प्रयुक्त छन्द की निर्वाह-क्षमता ने कालिदास की सत्ता तत्कालीन भारतीय काव्य-संसार में जमा दी होगी। इस काव्य का विषय विवादपूर्ण और सर्वथा मौलिक है—व्यक्तिगत-सा। कुबेर का एक यक्ष अपनी प्रणयिनी कान्ता के प्रणय में विभोर हो अपने कर्तव्य में स्खलित होता है और प्रियतम द्वारा वर्ष भर की अवधि के लिए दंडित हो पत्नी से बिछुड़कर रामगिरि पर वह निवास करता है। उसकी प्रणयिनी अलका में विसूरती है। वर्षागम पर मेघों का उमड़-घुमड़कर बरसना यक्ष को विकल करता है और वह कामी एक मेघ के प्रति अलका तक अपना प्रेम-सन्देह वहन करने की याचना करता है। वह कहता है कि हे मेघ, तू माल और आम्रकूट के उन्नत प्रदेश से चलकर दशार्णों के देश में होता हुआ उनके नगर विदिशा को जाना, फिर वेत्रवती का जल पीकर निर्विन्ध्या और सिन्धु को लांघ जाना। फिर उज्जयिनी पहुंच महाकाल की अर्चना में अपने गर्जन से मृदंग का योग देता तथा सुन्दरियों के कटाक्षों की चोट वहन

करता हुआ चर्मणावती पार कर जाना। दशपुर के बाद ब्रह्मावर्त मिलेगा, जहां कुरुक्षेत्र में अर्जुन के हस्तलाघव की छाप है और जहां महाभारत से विरक्त हो बलराम ने सरस्वती के तट पर वारुणी का परित्याग कर दिया था। वहां से मेघ, तू कनखल पहुंचना, जहां गंगा हिमगिरि से उतरती हैं और तब परशुराम के विक्रम के साक्षी क्रौंचरन्ध्र से निकलकर कैलास को जा पहुंचना। वहां मानस का जल तुझे नवजीवन प्रदान करेगा। कैलास के शिखर पर यक्षपुरी अलका है। वहीं मेरी प्रेयसी निवास करती है।

इसके बाद यक्ष बड़े सुन्दर शब्दों में अलका के ऐश्वर्य का वर्णन करता है। फिर समृद्ध सौध-प्रासादों में से मेघ उसके गृह को कैसे पहचानेगा, इसकी वह व्याख्या करता है। द्वार-तोरण, पद्म और इन्द्रधनु के चित्रण से मेघ उसे दूर से ही पहचान लेगा। द्वार पर बालमन्दार अपने स्तवकों सहित झूमता होगा। यक्ष-पत्नी विरह से व्याकुल, विषाद से कृश हो गई होगी और बिछोह के दिन अनेक उपायों से काट रही होगी। हल्के-हल्के उसे जगाकर मेघ को उससे कहना होगा—उसके प्रेमी यक्ष के विरहाकुल जीवन का और अवधि के अन्त में मधुर मिलन का सन्देश।

'मेघदूत' को पढ़कर यह इच्छा बलवती हो उठती है कि यह यक्ष स्वयं कालिदास है, अपने गेय काव्य का नायक स्वयं वही है। एक किम्वदन्ती है कि कालिदास काश्मीर में अपनी प्रेयसी छोड़ आया था। किसी कारण उसे स्वदेश छोड़ना पड़ा था, जहां वह लौट नहीं सकता था। इसी कारण वह अलका के रूप में अपने काश्मीर की याद करता है और वाचक को अपनी चोट से मर्माहत कर देता है। इसमें विशेष सन्देह नहीं कि कालिदास काश्मीरी थे। उनके ग्रन्थों में बारम्बार जो हिमालय के प्रति

निर्देश हैं, वे केवल प्रासंगिक ही नहीं है। रघुवंश में अनेक स्थल हिमालयपरक हैं। कुमारसंभव सारी कहानी हिमालय की है और 'मेघदूत' में तो उसके लिए हृदयस्पर्शी रुदन है। नाटकों में भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो हमें बरबस हिमालय की ओर खींचते हैं।

'मेघदूत' की काव्य-व्यंजना, उसमें प्रतिपादित विषय के चित्रमय वर्णन तथा पद-लालित्य ने संस्कृत साहित्य में कालिदास का साका चला दिया है। इसकी आश्चर्यजनक प्रौढ़ता और व्यक्तिगत भाव-व्यंजना से प्रभावित होकर संस्कृत में बीसियों कवियों ने इस प्रकार का काव्य-प्रयास किया है, परन्तु कोई इसके निचले छोर तक भी न पहुंच सका। बारहवीं शताब्दी में कवि धोई ने 'मेघदूत' की नकल में अपना 'पवनदूत' लिखा। मेघदूत पर वल्लभ, दक्षिणावतारनाथ और मल्लिनाथ ने टीकाएं कीं। 'मेघदूत' संस्कृत साहित्य में रोमांचक शैली का पहला प्रयास है, जिसे कालिदास ने पहले-पहल सामने लाकर भी अपनी असामान्य प्रतिभा से अनुपम कर दिया है।

कुमारसंभव

काव्य-सौन्दर्य में 'कुमारसंभव' अनूठा है। इसमें हिमालय का अद्भुत वर्णन है। उसके साथ ही वहां के गिरि-शिखर, कोल-किरात, ऋषि-मुनि, यक्ष-गन्धर्व और उनकी नारियां आश्चर्यजनक कवि-शक्ति से चित्रित हैं। यह मेघदूत की भांति केवल भाव-काव्य ही नहीं, वरन प्रबन्ध-काव्य है, महाकाव्य है, यद्यपि अपूर्ण है। अज्ञात कारणों से कालिदास इसे पूरा न कर सके। उनके लिखे उसमें केवल आठ सर्ग ही हैं। शेष दस बाद में लोगों ने मिला दिये हैं, जिनका ज्ञान प्राचीन टीकाकारों के समय तक न था। भारवि, कुमारदास और माघ को भी

कुमारसंभव के आठ सर्गों का ही पता था। कालिदास ने क्यों इस ग्रन्थ को पूरा नहीं किया, समझ में नहीं आता।

'कुमारसंभव' का प्रबन्ध असामान्य और मार्मिक है—वसन्त के विलास से लेकर नवप्रणय के आनन्द और काम की मृत्यु होने पर उसके अन्त तक। इस महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय था उमा और शिव का विवाह और कुमार (स्कन्द) का जन्म। कालिदास जन्म तक नहीं पहुंच सके।

प्राचीन आलोचकों (विशेषकर आनन्दवर्धन) ने इस देव-प्रणय के विषय पर लिखना अनुचित माना है। परन्तु प्राचीन आंखों से देखा जाकर भी यह ग्रन्थ इस कारण से अनुचित नहीं कहा जा सकता। स्वयं मम्मट ने आनन्दवर्धन-के से विचारों का विरोध किया है। वास्तव में उमा और शिव का विवाह केवल इन्द्रिय-विषयक प्रेम-वर्णन नहीं है। तारकासुर के विक्रम से प्रताड़ित, धर्षित, देवसेना चीत्कार कर रही है। उसके संचालन के लिए स्कन्द जैसा सेनानी चाहिए, जो उमा और शिव ही प्रस्तुत कर सकते हैं। फिर दोनों का प्रेम मानव जोड़े के उस भाव-बन्धन का प्रतीक है, जिससे कुल की अभिसृष्टि होती है और मानव-प्रसूति की श्रृंखला टूटने नहीं पाती।

'कुमारसंभव' में वर्णित विषय का विवरण इस प्रकार है। आरम्भ में ही हिमालय का वर्णन है--उसके मनोहर शिखरों और उस पर रहने वाली किन्नरियों का, जिनके वस्त्र-परिवर्तन के समय मेघों का परिधान (उनकी आड़) उनका सहायक होता है। गंगा के पतित नीहारों से आर्द्र शीतल वायु देवदारों की शाखाओं को सहलाती है, मयूर पक्षों को झुका देती है। इस वातावरण से निर्लिप्त शिव घोर समाधि में वहां निरत हैं, जहां उमा अन्य कुमारियों के साथ उन्हें कुसुम प्रदान करने के

लिए फूल चुन रही हैं। दूसरे सर्ग में तारक द्वारा पीड़ित देव-समूह त्राण के लिए ब्रह्मा के पास जाता है। ब्रह्मा से उनका कोई उपकार नहीं हो सकता। ब्रह्मा और विष्णु दोनों से बड़े केवल शिव ही उनका कल्याण कर सकते हैं। यदि किसी प्रकार उमा (हिमालय की कन्या) शिव को आकर्षित कर सके तो दोनों के सहवास से प्रसूत कुमार ही देवताओं की रक्षा और तारक का नाश कर सकता है। तब इन्द्र कामदेव को बुलाकर यह कार्य उसे सौंपता है। काम वसन्त की सहायता से अपना कार्य करने को तृतीय सर्ग से सन्नद्ध होता है। वसन्त की सारी शोभा निसर्ग पर सहसा बरसने लगती है, तृण-तृण थिरक उठता है, परन्तु शिव की समाधि प्रज्वलित ब्रह्म-वर्चस् की शिखा की भांति निश्चल है। काम उधर देखकर कांप उठता है, परन्तु उमा शिव के सम्मुख उपस्थित होकर अपनी भक्ति प्रदर्शित करती है। शिव एक अद्‌भुत शक्ति से अपने को डिगते हुए पाते हैं। सामने जो उनकी दृष्टि जाती है तो आम्र-मंजरी से हिलती शाखाओं पर बैठे काम को वह अपने ऊपर शर संधानते पाते हैं। उनका तीसरा नेत्र खुल जाता है और मन्मथ जलकर भस्म हो जाता है तथा चराचर जगत् मानो ताप से त्राण पाने के निमित्त 'त्राहि-त्राहि' कर उठता है। चौथे सर्ग में चित्रण अद्‌भुत और अत्यन्त विषादपूर्ण हो जाता है। नव वसन्त से भरे विलास में रति को वैधव्य ग्रस लेता है, उससे वह विलाप करती है। उसके विलाप से चराचर द्रवित हो जाता है। रति अपने सहचर वसन्त से सती होने के लिए चिता प्रस्तुत करने की प्रार्थना करती है, परन्तु आकाशवाणी होती है कि शिव के उमा को ग्रहण कर लेने के बाद एक बार काम फिर जी उठेगा और इसी आशा में रति अपने को जीवित रखती है।

उमा स्वयं अत्यन्त उत्साहहीन है, परन्तु शिव प्राप्ति के अर्थ अत्यन्त कठिन तप करने का वह प्रण करती है। ग्रीष्म में वह पंचाग्नि तपती है, शीत में जमे हुए जल में पड़ी रहती है। इस घोर तप में निरत उस उमा के समक्ष एक दिन एक तापस उपस्थित होता है। उसके उच्छ्वासों से वह जान लेता है कि उमा प्रणयकांक्षिणी है और उसकी सखियों से उसे उसका लक्ष्य भी सूचित हो जाता है। तापस शिव के अमोहक अवधूत रूप को उसके सामने चित्रित करता है, परन्तु बारम्बार उमा उसे स्पृहणीय कहती है। तापस प्रसन्न होकर अपना स्वाभाविक शिव का रूप धारण कर लेता है (सर्ग ५)। छठे सर्ग में शिव की ओर से सप्तर्षि हिमालय के समीप उमा को मांगने जाते हैं। सलज्जा उमा नेत्र नीचे कर कमल की पंखुड़ियां गिनती है। पिता सम्मति के अर्थ पत्नी की ओर देखते हैं, फिर स्वीकृति प्रदान करते हैं। दोनों ओर तैयारियां होती हैं। सातवें सर्ग में विवाह सम्पन्न होता है और स्त्रियां उमा को आशीर्वाद देती हैं। अन्तिम आठवें सर्ग में कामशास्त्र के अनुसार कवि शिव का विहार वर्णित करता है।

रघुवंश

'रघुवंश' कालिदास का अन्तिम ग्रन्थ है। इसमें कवि का भाव 'कुमारसंभव' से कहीं गम्भीर हो जाता है, उसका पांडित्य निखर जाता है। बाल्मीकीय रामायण के आधार पर निर्मित इस 'रघुवंश' में कथाप्रबन्ध का विस्तार उन्नीस सर्गों में है। 'रघुवंश' को प्राचीन विद्वानों ने भी 'रस', 'भाव' और सन्धियों से युक्त महाकाव्यों में सबसे सुन्दर कहा है। योग इसका विशिष्ट दर्शन हो जाता है।

महाकाव्य में अयोध्या में शासक सूर्यवंश की कथा है, जिसके

(मनु के बाद) ऐतिहासिक आदिपुरुष इक्ष्वाकु थे। इस वंश की तालिका पुराणों से दी हुई है।

प्रथम सर्ग में ही कवि अपने पाठक को घटना-वैचित्र्य की ओर ले जाता है। राजा दिलीप के पुत्र नहीं है। इन्द्र के समीप से लौटते हुए संयोगवश वह सुनते हैं कि एक बार उन्होंने सुरधेनु की उपेक्षा की थी। इसी कारण उससे अभिशप्त होकर वह उस अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इस पर वह सुरधेनु की वत्सा नंदिनी की सेवा करने का प्रण कर लेते हैं। एक बार नंदिनी परीक्षा लेती है और वह अपने प्राण देकर सिंह से उसकी रक्षा करने के लिए उद्यत होते हैं। उसके आशीर्वाद से उनके रघु-सा पुत्र-रत्न पैदा होता है। समग्र विद्याओं का समुचित और शीघ्र अध्ययन कर रघु युवराज का पद प्राप्त करता है। उसके पिता अश्वमेघ यज्ञ करना चाहते हैं और कुमार अश्व का रक्षक बनकर उसके पीछे-पीछे घूमता है। इन्द्र उसका अश्व चुरा लेते हैं और युद्ध ठन जाता है। अन्त में इन्द्र उसके पिता को अश्वमेध का सारा श्रेय देकर उससे प्रसन्न हो विदा होते हैं। अश्वमेध का अनुष्ठान समाप्त कर दिलीप कुल-परम्परानुसार रघु को राज्य देकर वन को चले जाते हैं (सर्ग १-३)। चौथे सर्ग में रघु दिग्विजय करते हैं। वंगों पर विजय पाकर वह पहले गंगा के डेल्टा में अपना विजय-स्तम्भ खड़ा करते हैं।

कलिंगराज महेन्द्र उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है। फिर कावेरी लांघकर रघु पाण्ड्यों पर आक्रमण कर देते हैं और उनसे मुक्ताओं का कर स्वीकार करते हैं। वहां से मलय और दर्दुर पर्वतों की संधि को लांघते हुए अपरांत के केरलों का पराभव करते हैं। फिर मुरला लांघकर त्रिकूट को अपना विजय-स्तम्भ घोषित करते हैं। इसके बाद रघु स्थल-मार्ग से बढ़कर पारसीक यवनों पर टूट पड़ते हैं। द्राक्षवलय पारसीक

भूमि पर उनके योद्धा आसव-पान करते हैं, फिर कावेरी दिशा की ओर बढ़ बक्षु की उपत्यका में बसने वाले दुर्द्धर्ष हूणों को धूल चटा उनकी केसर की क्यारियों में अपने अश्वों को विश्राम देते हैं। इसके बाद रघु कम्बोजों की लक्ष्मी के साथ अश्व और 'भूयिष्ठि द्रविण राशियों' को कर में स्वीकार कर, हिमालय लांघते समय मार्ग में किरात और उत्सव-संकेतों को हराते हुए, लौहित्य की उपत्यका में उतर जाते हैं। वहां प्राग्ज्योतिष के कामरूपों से गजों के रूप में कर लेकर अयोध्या लौटते हैं। निश्चय ही यह दिग्विजय समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजयों की छाया है। समुद्रगुप्त ने दक्षिण को विजय किया था और चन्दगुप्त ने उत्तर में पारसीक वाल्हीकों को। पहले की दिग्विजय प्रशस्ति प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर खुदी हुई है और दूसरे की दिल्ली-मेहरौली के लौह-स्तम्भ पर। कालिदास स्वयं गंगास्रोतों में और त्रिकूट पर प्रशस्ति-स्तम्भों की सूचना देना नहीं भूलते। रघु के दिग्विजय में दोनों का समावेश है। चन्द्रगुप्त के काल में होनेवाले कवि को ऐसा करना ही था।

पांचवें सर्ग में इस महाकवि के कौशल से कथा अद्‌भुत सरलता से बदल जाती है। रघु की उदारता उन्हें क्षण भर में कंगाल कर देती है। वरतन्तु-शिष्य कौत्स गुरु-दक्षिणा के लिए अनन्त धन मांगता है, परन्तु मृत्तिका पात्र में अर्घ्य देने वाले राजा के पास धन कहां? रघु कुबेर पर आक्रमण करते हैं, परन्तु यक्षराज डरकर पहले ही स्वर्ण की वर्षा कर देते हैं। रघु का पुत्र अज भी पिता की ही भांति शूर है।

छठे सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर का अद्‌भुत चित्रण है। इस वर्णमय चित्र को प्रायः इन्दुमती की सखी सुनन्दा प्रस्तुत करती है। सातवें सर्ग में विदर्भराज के कुण्डिनपुर प्रजापत्य के

अनुसार अज का इन्दुमती के साथ विवाह सम्पन्न होता है। रघु वन में इन्द्रियों का शमन करते हैं। इधर अज राज्य में शत्रुओं का। फिर अभाग्यवश एक घटना घटती है। नारद की वीणा से पतित पुष्पहार के स्पर्श से अयोध्या की उपवन परम्पराओं में पति के साथ विहार करती हुई इन्दुमती की मृत्यु हो जाती है और अज का हृदयस्पर्शी रोमांचक विलाप शुरू होता है। विधि-क्रियाओं में विलग्न वशिष्ठ स्वयं उस दुःख के समय उपस्थित न होकर अपने शिष्य द्वारा अज की शान्ति के लिए संवाद भेजते हैं। परन्तु अज अपने वियोग का वेग न सह सकने के कारण सद्‌गति को प्राप्त होते हैं और उनकी जगह उनके पुत्र दशरथ राज्य करने लगते हैं। नवें सर्ग में वन्य वसन्त का और दशरथ के आखेट का वर्णन है, जिसमें हरिण के भ्रम से राजा मुनि-पुत्र श्रवण को मार देते हैं। उसके वृद्ध प्रज्ञाचक्षु माता-पिता, अग्नि-प्रवेश करते हुए दशरथ को भी पुत्र-शोक में मरने का शाप देते हैं।

दसवें सर्ग में विष्णु का राम के रूप में अवतरण है। ग्यारहवें सर्ग में विश्वामित्र के आश्रम में ताड़का का वध, सीता-स्वयंवर, राम का विवाह, कैकेयी की दुरभिसन्धि, राम-सीता और लक्ष्मण का वनगमन, सीताहरण, बन्दरों की सहायता द्वारा लंका में सीता की खोज और राम द्वारा रावण-विजय आदि बातें अद्‌भुत काव्य में चित्रित हैं। बारहवें सर्ग में वन से लौटते समय राम द्वारा दक्षिण भारत और समुद्र का अपूर्व वर्णन है। फिर रस और ध्वनि का अनुपम सामंजस्य इस महाकाव्य में निखरता है। राम और सीता विधवा रानियों से मिलते हैं। और रामराज्य का आरम्भ होता है, किन्तु सीता के लम्बे समय तक रावण की लंका में रहने की शंकाजन्य किम्वदन्ती राम को पत्नी-त्याग के लिए विवश करती है। लक्ष्मण गर्भवती

सीता को घने वन में छोड़ आते हैं और वह वाल्मीकि के आश्रम में आश्रय लेती है। राम अकेले राज्य करते हुए यज्ञ में सीता की स्वर्ण-मूर्ति का साधर्क्य स्वीकार करते हैं (सर्ग १३-१४)। शत्रुघ्न यमुना के तट पर लवणासुर का वध करते हैं। सीता, लव-कुश को जन्म देती हैं। राम अश्वमेध का अनुष्ठान करते हैं। लव-कुश राम-चरित्र गाते हैं और उन्हें जनता राम के साथ स्वीकार करती है। वाल्मीकि सीता को बुला लेने के लिए राम से प्रार्थना करते हैं। सीता तीर्थ-जल मुख में लेकर जब तक उनके सामने शपथ करती हैं, पृथ्वी उसे अंक में भरकर पाताल की ओर धंस जाती है। यह सर्ग विषाद और कारुण्य का अद्भुत रूप खड़ा कर देता है। राम पुत्रों को राज्य देकर स्वर्ग चले जाते हैं (सर्ग १५)।

सोलहवें सर्ग में कुशावती में राज्य करते हुए कुश का वर्णन है। स्वप्न में राज्यलक्ष्मी उनके सामने प्रकट होकर अयोध्या की वन्यदशा का वर्णन करती और उन्हें उसे फिर से राजधानी बनाने को प्रस्तुत करती है। कुश अयोध्या को लौटते हैं। बाद के सर्गों में सूर्यकुल के अन्तिम राजाओं का संक्षिप्त विवरण दिया हैं।

उन्नीसवें सर्ग में विलासी अग्निवर्ण के विलास का वर्णन है। फलस्वरूप अग्निवर्ण क्षयरोग से पीड़ित होकर मर जाता है और उसकी रानी अपने भ्रूण की रक्षा करती हुई प्रजापालन करती है। इस प्रकार 'रघुवंश' का दीर्घ कथा-क्रम सूर्यवंशी राजाओं के उत्थान-पतन की कहानी है।

अभिज्ञान शाकुन्तल

कालिदास का नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाट्य क्षेत्र में एक चुनौती है। इसके वर्णन की सुकुमारता, वस्तु की गठन,

शैली की मनोरमता, कला का चातुर्य सभी अनुपम है। जो सफलता इस नाटक को विदेशी आलोचकों के मूल्यांकन में मिली, वह सम्भवतः किसी विदेशी साहित्य को कभी यूरोप में नहीं मिली। ग्रीक नाटकों की यूरोप में धूम के बावजूद भी समीक्षकों ने स्वीकार किया कि शाकुन्तल वस्तु की एकता, भावावेगों की अभिव्यक्ति और शैली के सुन्दर निर्वाह में उनसे कहीं आगे है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का कथानक कुरुकुल के दुष्यन्त और उसकी प्रेयसी आश्रमवासिनी शकुन्तला से सम्बन्धित है। कथा महाभारत की है, यद्यपि कालिदास ने उसे काफी बदल दिया है। पिता की अनुपस्थिति में शकुन्तला सखियों के साथ आश्रम में अकेली है। दुष्यन्त आखेट के लिए जाता है और शकुन्तला के रूप-प्रणय का स्वयं शिकार बन जाता है। गन्धर्व-विवाह के बाद वह हस्तिनापुर लौट जाता है और शकुन्तला के राजधानी आने पर शापवश उसे पहचान नहीं पाता। शकुन्तला कश्यप के आश्रम में चली जाती है और अन्त में पुत्र सर्वदमन के साधन से दोनों का मिलन होता है। दुःख दोनों की अनीत को जैसे धो डालता है और पति-पत्नी पुत्र के साथ सुखी होते हैं। 'शाकुन्तल' कालिदास की सर्वांग सुन्दर कृति है।

विक्रमोर्वशी

इस नाटक की कथा 'ऋग्वेद' के पुरुरवा-उर्वशी के सम्वाद से ली गई है। उर्वशी को देखकर राजा प्रेम में पागल हो उठता है। देवकार्य के बाद इन्द्र की अनुमति से उर्वशी उसे कुछ काल के लिए मिलती है, पर केवल कुछ काल के लिए ही। प्रणय-सुख-जनित अल्पकालिक मद-निद्रा तब सहसा टूट जाती

है, जब उर्वशी के पृथ्वी-निवास की अवधि पूरी हो जाती है। पुरुरवा का विलाप दिगन्त को व्याप्त कर देता है, चराचर को द्रवित और करुणा से ओतप्रोत। इस नाटक का भी अपना असाधारण स्थान है, किंतु यह किसी भी दृष्टि से शाकुन्तल के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

मालविकाग्निमित्र

'मालविकाग्निमित्र' कालिदास का तीसरा नाटक है। सम्भवतः यह आरम्भकाल की रचना है। यह पुष्यमित्र शंग-कालीन कथा का उद्घाटन करता है। पुष्यमित्र शुंग मगध का ब्राह्मण सम्राट् था, जिसने १८५ ई० पू० के लगभग वृहद्रथ को मार मौर्यवंश का अंत किया। और जो महाऋषि पतंजलि का समकालीन था। 'मालविकाग्निमित्र' में उसी पुष्यमित्र के पुत्र और विदिशा-स्थित प्रान्तीय शासक अग्निमित्र तथा उसकी प्रेयसी मालविका का प्रणय निदर्शित है। इसमें गजब की शांति और रसों का परिपाक हुआ है। संगीत के सिद्धान्तों का भी इसमें अच्छा निरूपण है। शुंगकालीन इतिहास पर इस नाटक द्वारा बड़ा प्रकाश पड़ा है।

इसी में पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र की राजसूय के अवसर पर अश्व-रक्षा के क्रम में उन यवनों (ग्रीकों) का उल्लेख है, जिन्हें उस शुंग युवराज ने सीमा के सिंधु-तट पर परास्त किया था।

कालिदास कालीन रंगमंच

'मालविकाग्निमित्र' से हमें उस समय के नाटकों, रंगमंच, नायक तथा नायिका के बारे में पता चलता है। इनसे यह भी पता चलता है कि वे संयोजन नाट्य-गृहों में किस प्रकार खेले

जाते थे । इस प्रकार हम भारत की नाट्यकला की सबसे प्राचीन झलक पाते हैं। इनसे पता चलता है कि उस समय सांस्कृतिक गतिविधियों का व्यापक चक्र व्याप्त था। नृत्यगृहों, संगीतकक्षों, चित्रवीथियों, नृत्य-प्रतियोगिताओं, नाटक-समारोहों की धूम रहती थी।

उस समय के नाट्य-गृह आयताकार न होकर सामान्य भवन प्रणाली के बने होते थे। उनमें ध्वनि के प्रभाव का विशेष ध्यान रखा जाता था। इसके दो भाग होते थे। रंगमंच के सामने के बड़े भाग में पंक्तिवार सीट रहती थीं और छोटे आयताकार भाग में रंगमंच होता था। दर्शकों को रंगमंच का पूरा दृश्य दिखाई दे, इसके लिए उसे पर्याप्त ऊंचा बनाया जाता था। रंगमंच के पार्श्व तथा पृष्ठभाग को नेपथ्य-गृह (ग्रीन रूम) या विश्रामगृह बनाया जाता था। इन गृहों में पुरुष और नारी के मध्य कोई भेद-भाव नहीं था। वास्तव में रंगमंच के निकट कहीं भी वासनात्मक पहलू के लिए कोई स्थान नहीं था।

उन दिनों हाथ से ही नाप का काम लिया जाता था। उदाहरण के लिए रंगमंच चार हाथ ऊंचा होता था। नेपथ्य-गृह ऐसे कार्यों के लिए प्रयोग होता था, जो रंगमंच पर नहीं दिखाए जा सकते थे, जैसे जानवरों की वाणी, दैवी ध्वनि, कोलाहल तथा आकाशवाणी आदि। वाद्य-वृन्द भी वहीं रहते थे।

DE PAUL SCHOOL LIBRARY VIDYA NAGAR

योतिषाचार्य वराहमिहिर

भारत के इतिहास की महान् परम्पराओं को पाश्चात्य इतिहासज्ञों और उनके अन्धानुयायी बने भारतीय विद्वानों ने धूमिल करने में कसर नहीं छोड़ी। शकों का मूलोच्छेद करने वाले सम्राट् विक्रमादित्य और उनके प्रतिभाशाली 'नवरत्नों' को अप्रामाणिकता के जाल से ढक दिया गया है। भारत के महान् गणितज्ञ आर्यभट्ट का तो कुछ-कुछ उद्धार हो गया, किन्तु महान् नक्षत्रवेत्ता आचार्य वराहमिहिर अभी तक अपना उचित स्थान नहीं पा सके हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ज्योतिर्विद् डा० बेंगलूर वेंकटरमन भारतीय ज्योतिर्विज्ञान अनुसन्धान संस्थान के विद्वान् आचार्य पं० केदारनाथ प्रभाकर आदि ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि विक्रम सभा के नक्षत्रज्ञ वराहमिहिर ईसा पूर्व १२३-४१ में हुए और वर्तमान कुतुबमीनार वस्तुतः उनके द्वारा निर्मित वेधशाला थी, जिसका नाम 'मेरु-स्तम्भ' था।

वराहमिहिर उन महान् 'शकारि' सम्राट् विक्रमादित्य के राज्याश्रित ज्योतिर्विज्ञानी थे, जिन्होंने ई० पू० ५७ में शकों को हराकर 'मालव संवत्' का प्रारम्भ किया, जो कालान्तर में 'कृत संवत्' और 'शक संवत्' भी कहलाया। ये महान् भारतीय

नक्षत्रज्ञ ज्योतिष के तीनों स्कन्धों—होरा-संहिता-सिद्धान्त—के प्रकाण्ड वेत्ता थे और भूकम्प को सर्वप्रथम विज्ञान के सिद्धान्त पर विवेचित करनेवाले भूकम्पवेत्ता भी थे।

वराहमिहिर का जन्म उज्जयिनी के समीपस्थ नगर 'कपित्थक' (वर्तमान कायथा) ग्राम में सूर्योपासक 'आदित्यदास' के यहां चैत्र शुक्ल दशमी ई० पू० १२३ को मध्याह्न बारह बजे हुआ था। वराहमिहिर प्रणीत 'वृहज्जातक' में उपसंहार, श्लोक-६ अन्तर्साक्ष्य उपलब्ध हैं।

वराहमिहिर ने 'सिद्धान्त-संहिता-होरा' नामक 'त्रिस्कन्ध ज्योतिष' की प्रतिष्ठा हेतु 'वृहज्जातक', 'लघुजातक', 'समास संहिता', 'वृहत्संहिता' और 'पंच-सिद्धान्तिका' जैसे महान् ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन ग्रन्थों में कवित्व का उत्कर्ष भी स्पृहणीय है।

आचार्य मिहिर मूलतः ज्योतिर्विद् थे। उनके जन्म एवं विक्रम से समकालीनता का निर्णय यद्यपि अन्तः एवं बाह्य अनेक साक्ष्यों के आधार पर निर्णायक स्थिति में है, किन्तु 'युधिष्ठिर संवत्' और 'कलि-संवत्' का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण उन्हें कुछ विद्वानों ने पांचवीं शती में लाने का यत्न किया है।

वृहत्संहिता' के सप्तर्विचाराध्याय के श्लोक-३ में वराहमिहिर ने कहा है—

> 'आसन मधासु मुनयः
> शासत्ति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
> पड्द्विक पंचद्विवभूतः (२५२६)
> शक कालस्तस्यराज्ञश्च ॥

अर्थात् युधिष्ठिर-काल में सप्ताष मघा-नक्षत्र में भ्रमण कर रहे थे। उनके काल से २५-२६ वर्ष बाद 'शक काल' का आरम्भ हुआ। प्रश्न यह है कि वराहमिहिर ने 'युधिष्ठिर-संवत्' देकर 'शक काल' की गणना क्यों करायी ? सीधे क्यों नहीं की ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वराहमिहिर के युग में 'युधिष्ठिर-संवत्' ही प्रचलित था, प्रतिष्ठित भी था और 'शक-संवत्' का आरम्भ ही हुआ था। यदि वे सचमुच पांचवीं शती में ही हुए होते, तो क्या विक्रम-संवत् का उल्लेख न करते ? 'पंच-सिद्धान्तिका' में भी एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य ऐसा है, जिससे प्रख्यात गणितज्ञ श्री तिरु वेंकटाचार्य के कथनानुसार वराहमिहिर का जन्म ईसा पूर्व का प्रमाणित होता है।

वराहमिहिर प्रतीत ग्रन्थ 'वृहत्संहिता' में ऐसे अन्त साक्ष्य मिले हैं, जो 'मालव-सम्राट्' विक्रमादित्य के रत्न-ज्ञान आदि का विशेष परिचय; किस स्थान में जंल प्राप्त होने की सम्भावना है; कौन परिस्थिति कल्याणकर तथा कौन अकल्याणकर है इत्यादि विषयों का वर्णन बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ किया गया है। इस ग्रन्थ के साथ कृषकों का विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि उन्हीं के कल्याण के विषय इस ग्रन्थ में वर्णित हैं और उस पर भी विशेषता यह है कि परम विद्वान् भट्टोत्पल ने अत्यन्त खोज तथा परिश्रम के साथ इस ग्रन्थ पर बृहद् टीका लिखी है तथा वाराणसी के परम प्रसिद्ध ज्योतिषी श्री सुधाकर द्विवेदी ने इसका संशोधन किया है।

ज्योतिषशास्त्र का दूसरा स्कन्ध जातक है। जातक का अर्थ है—पृथ्वी पर जन्म लेने वाले लोगों के शुभाशुभ फल का विवेचन करना। जिस प्रकार अन्धकार में दीप-घट, पट आदि द्रव्यों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार पूर्व जन्म में जो कुछ

शुभ-अशुभ कर्म किया गया है, उसके फल को यह जातक-शास्त्र बतलाता है। इसीलिए इस फलित ज्योतिष पर लोगों की आस्था तथा अभिनिवेश है। वराहमिहिर का ग्रन्थ इस फलित विषय में अत्यन्त ही उपादेय है।

वृहज्जातक ग्रन्थ फलित विषय का शिरोभूषण है। अट्ठाईस अध्यायों में यह ग्रन्थ है और प्रत्येक अध्याय में एक-एक विषय का विवेचन सर्वांगपूर्ण है और प्रत्येक अध्याय का अन्तिम श्लोक समस्त अध्याय की चूर्णिका है। उदाहरणार्थ, कौतूहलपूर्ण एक श्लोक उद्धृत किया जाता है—

'शुभफलददशायां तादृटगे वान्तरात्मा
बहुजनयति पुंसां सौख्यभर्थागमं च।
कथितफलविपाकैस्तर्कयेद्वर्त्तमानां,
परिणमति फलाप्तिः स्वप्नचिन्ता स्ववीर्यैः ॥'

अर्थात्, शुभ फल देनेवाले ग्रह की दशा जब आती है, अन्तरात्मा भी उसी प्रकार प्रसन्न हो जाती है। उस समय नाना प्रकार से धन का आगमन होता है तथा सौख्य मिलता है। इस प्रकार के फलों से वर्तमान शुभ दशा का अनुमान करना चाहिये। शुभ दशा प्राप्त होने पर भी यदि यह निर्बल रहते हैं तो फल तो घटता है, किन्तु वास्तव स्थिति में नहीं। स्वप्न में लोग अच्छे फलों को देखते हैं या मनोराज्य में उन आनन्दों का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि चाहे मनोराज्य में हो, स्वप्न में हो अथवा वास्तविक परिस्थिति में हो, शुभ ग्रह-दशा आनन्द देने वाली होती ही है। इसी प्रकार छाया तथा शरीर-शोभा से अर्थात् लोगों की कान्ति, गन्ध, रस, स्पर्श तथा वाणी से भी दशा का अनुमान करने की विधि व्यक्त की है—

'छाया शुभाशुभफलानि निवेदयन्ती
लक्ष्यामनुष्यपशुपक्षिषु लक्षणज्ञैः ।
तेजोगुणान्वहिरपि प्रविकाशयन्ती
दीपप्रभास्फटिक रत्नघटस्थितेव ॥'

अर्थात्, जिस प्रकार स्फटिक रत्न के घड़े के भीतर दीप रख देने पर दीप का तेज बाहर भी प्रकाशित होता है, उसी प्रकार मनुष्य एवं पशु-पक्षियों का शुभाशुभ फल बतलाने वाली उनकी छाया होती है, जिसे लक्षग को जानने व.ले ज्योतिषी ही समझते हैं।

वराहमिहिर का 'पंच-सिद्धान्तिका' नाम का जो सिद्धान्त-ग्रन्थ या करण-ग्रन्थ है, उसमें उस समय में प्रचलित पांच सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। ये पांच सिद्धान्त हैं—(१) ब्रह्मसिद्धान्त, (२) वशिष्ठ सिद्धान्त, (३) सूर्य सिद्धान्त (४) रोमक सिद्धान्त, और (५) पौलिश सिद्धान्त। रोमक सिद्धान्त और पौलिश सिद्धान्त को पहले-पहल लाटदेव ने लिखा, ऐसा वराहमिहिर कहते हैं। इसी क्रम के दूसरे श्लोक में वराहमिहिर ने विक्रमादित्य का उल्लेख करके साम्राज्य का विस्तार बताया है—

मालवान स भरुकच्छ सुराष्ट्रान,
लाट सिंधुविषय प्रभृतीश्च ।
विक्रमार्जित धनो अवंति राजा,
पारियात्र निलयान कृत वृद्धिः ॥ (६९/११)

अर्थात् मालव्य पुरुष मालव, भरुकच्छ, सुराष्ट्र, लाट, सिन्धु देश, और पारियात्र पर्वतबासियों का रक्षक, पराक्रम से धन कमाने वाला, सुन्दर बुद्धि का राजा होता है।

आचार्य वराहमिहिर का यह श्लोक विलक्षण है। दोनों पंक्तियों के प्रथम शब्द 'मालव+विकम=मालव-विकम' का अत्यन्त सार्थक संकेत दे रहे हैं, जो 'मात्र संयोग' नहीं कहा जा सकता। अपितु यह मिहिराचार्य के समकालीन मालवगण मुख्य विक्रमादित्य का नामोल्लेख ही है। संवत् ४१६ से ६३६ के मध्य शिलालेखों पर 'मालव' संवत्' और सिक्कों पर 'मालवानाम् जय:' अंकित होना प्रमाण रूप में उपलब्ध है।

उक्त श्लोक का प्रथम संकेत विक्रमादित्य के शासन के विस्तार की ओर है। प्राचीन अवन्ती महाजनपद के 'विदिशा' सहित क्षेत्र का नाम ही 'मालवा' है। विक्रम के राज्य की सीमा में इतिहासज्ञ सौराष्ट्र, अवंती, आभीर, शूर एवं अर्बुदों के साथ-साथ 'पारियात्र-पर्वत' को भी मानते हैं।

वराहमिहिर के ग्रन्थ

वराहमिहिर-रचित 'वृहत्संहिता' अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ १०६ अध्यायों में लिखा गया है। ज्योतिष का जो एक संहिता-विभाग है, उसी में इसकी गणना होती है। संहिता का अर्थ प्राकृत विषयों का वर्णन है अर्थात् आकाश में गृह-तारा के सम्बन्ध से, एवं वर्षा होने के कारण जो विलक्षणता उत्पन्न हो; हाथी, घोड़ा, मनुष्य राज्य में उनकी उपस्थिति का प्रमाण है। ग्रन्थ के 'पुरुष लक्षणाध्याय:' में पहले ११६ श्लोकों में वे पुरुषों के विस्तृत लक्षण बताते हैं और तुरन्त बाद ही ६९वें 'पंच महापुरुष लक्षणाध्याय:' में विशिष्ट पांच पुरुषों के लक्षण देते हैं—

'जीवेन भवति हंस: सैरिण
शश: कुजेन रुचकश्च

भद्रां बुधेन बलिना
मालवा दैत्य पूज्येन ।।' (श्लोक-२)

अर्थात् 'स्वगृह या उच्च में स्थित होकर केन्द्र में वली वृहस्पति हो तो 'हंस', शनि हो तो 'शश', मंगल हो तो 'रुचक', बुध हो तो 'भद्र' तथा शुक्र हो तो मालव्य महापुरुष होता है ।' यहां मालव्य श्लोक के अन्त में रखा गया है। किन्तु आश्चर्य तब होता है, जब श्लोक १०,११ तथा १२ में मालव्य पुरुष के गुण, स्वभाव, आयु और मृत्यु आदि का विस्तृत और विशेष वर्णन मिलता है। 'कामसूत्र' में शशक, चित्रक, वृषभ, अश्व नामक चार पुरुषों के बाद पंच महापुरुषों के नामकरण का औचित्य क्या है ?

मालव्य-पुरुष से सम्बद्ध तीन में से प्रथम श्लोक का भाव इस प्रकार है—मालव्य पुरुष हाथी जैसी नासिका वाला, तुल्य-आजानुबाहु वाला, पुष्ट अंग संधि, समान सुन्दर शरीर, कृश मध्यभाग वाला, ठोड़ी से सिर तक १३ अंगुल ऊंचा, ठोड़ी से कान के छिद्र तक तिरछी दस अंगुल ऊंचाई वाला, दीप्त-मुख तथा नेत्रवाला, सुन्दर कपोल, समान श्वेत दांत और पतले अधर वाला होता है।

उक्त शारीरिकी लक्षण पूर्णत: किसी परमवीर, शौर्यशाली राजा के ही हैं। उज्जयिनी के सांस्कृतिक इतिहास में डॉ० शोभा क़ानूनगो ने विक्रमादित्य का जो चित्रण किया है, वह श्लोक के चित्रण से मिलता है।

कुछ लोगों का विचार है कि रोमक और पौलिश सिद्धान्त रोम और ग्रीस देश के ज्योतिष सिद्धान्त के आधार पर लिखे गए हैं। श्री सुधाकर द्विवेदी का मत है कि रोमक सिद्धान्त (लोमस सिद्धान्त) भारतीय ही हैं। एक टीकाकार ने लिखा है कि

सब ग्रह अपने उच्च स्थान में हों, मीन का अन्तिम अंशलग्न हो, बुध २५ कला से वृष में हो तो ऐसे योग में जन्म लेने वाला जातक परमायु का भोग करता है। इस योग को प्रमाणित करने के लिए ही वराहमिहिर ने 'पंच-सिद्धान्तिका' पुस्तक लिखी और अनुभव किया कि किस सिद्धान्त के ग्रह ठीक होते हैं। वराहमिहिर ज्योतिषशास्त्र के बड़े प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। ज्योतिषशास्त्र में भास्कराचार्य का बड़ा यश है। आजकल उन्हीं के बनाए हुए ग्रन्थ पाठ्य-पुस्तकों में हैं। उन्होंने 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ में वराहमिहिर की बड़ी प्रशंसा की है।

वराहमिहिर की 'वृहत्संहिता' में अनेक अच्छे विषय हैं। स्त्री जाति के विषय में उनके जो विचार हैं, वे संक्षेप में यहां दिए जाते हैं—

"स्त्रियां रत्न की शोभा को बढ़ाती हैं। रत्न की कांति से स्त्रियों की शोभा नहीं होती, क्योंकि बिना रत्न के भी स्त्रियां मनोहारिणी होती हैं और रत्न यदि स्त्री के अंग में लगा हुआ नहीं हो तो वह रत्न किसी के मन को आकृष्ट नहीं करता। राजाओं को शत्रु-बल जीतने के लिए अपने स्वरूप को संवृत करके रखना पड़ता है। नाना प्रकार से व्यापारों की चिंतना करनी होती है, मंत्री लोग जैसा विचार देते हैं, तदनुसार चलना पड़ता है, सब ओर से यहां तक कि अपने पुत्र से भी शंकित रहना पड़ता है। इस प्रकार दुःख-समुद्र में पड़े हुए राजाओं को सुख स्त्री-सम्मिलन में ही है। ब्रह्मा ने केवल स्त्री-रत्न की सृष्टि की है, जिस स्त्री-रत्न का नाम सुनने से, जिनको देखने से, जिनका स्पर्श करने से तथा जिनका स्मरण करने से लोगों को उल्लास मिलता है। उसी के लिए धर्म, अर्थ है। पुत्र-विषयक सौख्य उन्हीं से मिलता है तथा अन्याय वैषयिक

आनन्द उन्हा से मिलते हैं। इसलिए स्त्रियां घर में लक्ष्मी सदृश हैं। अतएव सम्मान तथा ऐश्वर्य दोनों से वे सर्वदा आदरणीय हैं। जो वैरागी लोग स्त्रियों के गुणों को छोड़कर केवल उनके दोषों का वर्णन करते हैं, उनमें सद्भाव नहीं है, वे दुर्जन हैं। ब्राह्मण पैर से पवित्र हैं, गौएं पृष्ठ से, छाग और घोड़े मुख से, किन्तु स्त्रियां सब अंगों से पवित्र हैं। स्त्री कहो, चाहे माता कहो, लोगों की उत्पत्ति स्त्रियों से ही होती है। इसलिए उन दोनों की निन्दा करने वाला कृतघ्न है। यह असाधु लोगों की धृष्टता है, जो निर्दोष स्त्रियों की निन्दा करते हैं। यह निन्दा इसी प्रकार की है, जैसे चोर स्वयं चोरी करके 'चोर-चोर' पुकारे।

"पुरुष एकांत में स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए बहुत-सी बातें कहते हैं। किन्तु उनकी पूर्ति पीछे नहीं करते। किन्तु स्त्रियां जीवित दशा में तो सर्वथा पति को प्रसन्न करती ही हैं, कृतज्ञ बुद्धि से उनके शरीर-त्याग करने पर भी उनके साथ अग्नि में प्रवेश करती हैं। जिसके घर में स्त्री-रत्न है वह निःस्व रहने पर भी पृथ्वीश्वर है।"

उन्होंने एक अध्याय में यही विचार किया है कि स्त्रियों के अंगों के सुंदर लक्षण क्या हैं तथा एक अध्याय में पुरुषों के शुभ लक्षणों का वर्णन किया है। इस प्रकार 'वृहत्संहिता' वराहमिहिर के ज्ञान-भंडार का एक अनमोल रत्न है।

रोम में भारत के राजदूत

'वृहत्संहिता' के अमर ग्रन्थकार, अपने काल के सर्वाधिक प्रसिद्धि-प्राप्त ज्योतिषशास्त्री ही नहीं, सफल राजनीतिज्ञ और राजप्रतिनिधि भी थे। विक्रमादित्य के नवरत्नों में कालिदास के ठीक नीचे उनका स्थान आता था और मंत्रिमंडल में भौतिक एवं जनहित के विभागों को उनके जिम्मे छोड़ा गया था। बाद

में, विक्रमादित्य ने उन्हें रोम के तत्कालीन सम्राट् आगस्टस से भेंट करने के लिए यूरोप भी भेजा था, जहां वे सम्भवतः भारत के प्रथम राजदूत के रूप में कुछ दिन रहे भी थे।

विदेशी इतिहासज्ञों ने कई स्थानों पर इस बात की चर्चा की है कि रोम के सम्राट आगस्टस के साथ किसी भारतीय अधिपति का पत्र-व्यवहार हुआ था। अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ है कि वह शासक विक्रमादित्य ही थे। उन पत्रों के जो लेख उपलब्ध हैं, उनमें विक्रमादित्य को 'परपक्ष समाट्' कहकर सम्बोधित किया गया है, जो पुरुवंश का ही अपभ्रंश लगता है। आगस्टस के नाम लिखे गये विक्रमादित्य के पत्र को वराहमिहिर ही रोम ले गये थे और इसका स्पष्ट संकेत उनकी 'बृहत्संहिता' में मिलता है। "भरूकच्छ समुद्र रोमक तुषारा" नामक प्रसंग में उन्होंने विस्तृत रूप से भारत और इटली के बीच होनेवाले समुद्री व्यापार का वर्णन किया है।

उनका ज्योतिष-ज्ञान रोम के तत्कालीन ज्योतिष-शास्त्र से बहुत कुछ प्रभावित था और विदेशी ज्योतिष को भारत में पहले-पहल लाने का श्रेय उन्हीं को ही। 'बृहत्संहिता' की भौगोलिक सामग्री इस बात का सबूत है कि उसके रचनाकार को काफी दिनों तक देश-देशान्तर की यात्रा करनी पड़ी होगी। उनकी पुस्तकों में प्रचलित कई विदेशी शब्द भी इस धारणा को पुष्ट करते हैं।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान अनुसन्धान संस्थान के संचालक आचार्य केदारनाथ प्रभाकर ने निरन्तर कई वर्ष की छानबीन के पश्चात् यह खोज की है कि आचार्य वराहमिहिर ने वर्तमान कुतुबमीनार को केन्द्र मानकर जो उस समय वेधशाला बनवाई गई थी, उसका विस्तार पूर्व में कालकाजी के प्रसिद्ध मन्दिर से लेकर पश्चिम में घोरनी-आयानगर तक का अर्थात् कुतुबमीनार

से लगभग छह मील तक दोनों ओर वह वेधशाला निर्मित थी।

आचार्य प्रभाकर के मतानुसार दिल्ली का प्रसिद्ध कालकाजी का देवी मन्दिर उक्त वेधशाला का अंग है और इसकी प्रेरणा उन्हें उज्जैन के महाकाल मन्दिर से प्राप्त हुई है। संवत्-प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य के राज्यकाल में उज्जैन को विश्व में वही स्थान प्राप्त था, जो आज ग्रीनविच को मिला हुआ है। दूसरे शब्दों में उज्जैन (उज्जयिनी) उन दिनों समस्त संसार की काल-गणना अर्थात् समय निर्धारित करने का केन्द्र था और इसी कारण वहां पर भगवान महाकाल का विख्यात मन्दिर आज भी मौजूद है। महाकाल का अर्थ है—जहां से काल (समय) की गणना की जाए। ठीक इसी तरह दिल्ली स्थित कालकाजी का मन्दिर भी काल-गणना का स्थल था, जिसका सम्बन्ध आचार्य वराहमिहिर की विशाल वेधशाला (कुतुबमीनार जिसका मध्यवर्ती स्तम्भ था) से था। ध्यान रहे, शब्दकोश एवं ज्योतिषशास्त्र में तेंतीस प्रकार के केतुओं को काल कहा गया है और काल-सम्बन्धी गणना को 'कालिक' कहकर पुकारा जाता है।

यही नहीं, वेदों में तो ज्योतिषशास्त्र तक को 'काल विधान-शास्त्र' एवं सूर्यदेव को 'कालात्मा' कहा जाता है। अतः कालका, कालिका एवं कालकाजी सभी नाम काल-गणना से सम्बन्ध रखने वाले स्थान से ही हो सकते हैं और आज भी स्थानीय लोग कालकाजी की पहाड़ी को सूरज की ठीकरी कहकर ही पुकारते हैं।

१९७० के आचार्य प्रभाकर ने वर्ष के चार विशेष दिनों (सबसे बड़ा, सबसे छोटा एवं जब दिन और रात बराबर होते हैं) को मध्याह्न के एक विशेष टाइम पर कुतुबमीनार की पृथ्वी पर पड़ने वाली छायाओं की दिशा, लम्बाई एवं आकृति की पूर्व

घोषणा करके यह सिद्ध कर दिया था कि इस गगनचुम्बी भवन का सम्बन्ध केवल ज्योतिर्विज्ञान से ही है न कि किसी अन्य बात से इसका कोई सम्बन्ध है। उन्हीं दिनों आचार्य प्रभाकर ने कुतुबमीनार की वर्तमान अन्तिम मंजिल (कुतुबमीनार की सात मंजिलें थीं और इसकी कुल ऊंचाई ८४ गज २५२ फुट थी) पर बैठकर यह अनुभव किया था कि कुतुबमीनार के दोनों ओर (पूर्व एवं पश्चिम) से आकाश का टिकाव समस्त पहाड़ियों पर है और वर्ष भर में सदैव (इस स्थान पर बैठकर देखने से) सूर्योदय एवं सूर्यास्त इन्हीं पहाड़ियों के मध्य ही होता है। बहुत सम्भव है कि जिस प्रकार से कुतुबमीनार से लगभग आधा-आधा मील पूर्व एवं पश्चिम से 'सत्ताईस' नक्षत्रों का वेध लेने के लिए लगभग पांच करोड़ की लागत से 'सत्ताईस भवन' बने हुए थे, ठीक उसी प्रकार से कुतुबमीनार से लगभग छह-छह मील दूर दोनों दिशाओं में बारह राशियों का वेध लेने के लिए बारह-बारह 'काल-भवन' बने होंगे, जिन्हें बाद में 'सत्ताईस भवनों की तरह कुतुबुद्दीन आदि ने तुड़वा दिया और केवल कालकाजी उनमें से एक भवन शेष रह गया हो।

आज भी कुतुबमीनार की चोटी पर बैठने से सबसे बड़े दिन (२१ जून) को सूर्योदय ठीक कालकाजी मन्दिर से होता देखा जा सकता है, जब कि इसी दिन सूर्यास्त घोरनी के स्थान पर होता नजर आएगा। २३ दिसम्बर (सबसे छोटा दिन) को इसी स्थान से सूर्योदय ठीक अनंगपुर में होता दिखाई देगा और सूर्यास्त कुसुमपुर में होता देखा जा सकता है। २१ मार्च एवं २१ सितम्बर को जब दिन एवं रात बराबर होते हैं, तब सूर्योदय तुगलकाबाद के स्थान पर एवं सूर्यास्त मलकपुर के स्थान पर होता देखा जा सकता है।

वराहमिहिर के पूर्वज शक थे, किन्तु बाद में कई शदियों तक

यहां रहने के कारण वे पूर्णरूप से भारतीय हो गये थे। 'भविष्य पुराण' में सुजिव्ह नामक शाक द्वीपी मग ब्राह्मण की पुत्री पर सूर्य के आसक्त होने की कथा है। उस कथा में सुजिव्ह को मिहिर-गोत्री कहा गया है। उसी सुजिव्ह की परम्परा में वराह का जन्म हुआ कहा जाता है।

वराहमिहिर रचित ग्रन्थों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त कृति सम्भवतः 'बृहत्संहिता' ही है, जो न केवल एक ज्योतिष ग्रन्थ है, वरन् जिसके द्वारा हम तत्कालीन लोक-जीवन की मधुर झांकियां भी देख सकते हैं। उसमें भूगोल, खगोल, वायु-विज्ञान, ऋतु-विज्ञान, अग्नि-विज्ञान, राज-विज्ञान, वर्षा-विज्ञान एवं पदार्थ-विज्ञान आदि जनोपयोगी विषयों पर पूरा प्रकाश डाला गया है। इतने विस्तृत एवं चतुर्मुखी चर्चा-युक्त दूसरे किसी ग्रन्थ का मिलना कठिन है।

धन्वन्तरि

भारतीय वैद्यों में धन्वन्तरि का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु इनकी जीवनी का कुछ भी प्रामाणिक हाल नहीं मालूम होता। क्षीरस्वामी-कृत अमरकोष टीका के वनौषधि वर्ग के ५०वें श्लोक की व्याख्या से यह ज्ञात होता है कि धन्वन्तरि का बनाया हुआ एक कोष था, किन्तु आज इनके नाम पर केवल 'धन्वन्तरि निघण्टु' नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध है। यह अपने विषय को बहुत प्रसिद्ध है।

विज्ञान विषय के अन्तर्गत चिकित्साशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण शाखा है, जिसे वैद्यक-विद्या अथवा आयुर्वेद कहा जाता है। यह विद्या भारत में प्राचीनकाल से ही अपने अनुसन्धानों के फलस्वरूप उत्तरोत्तर प्रगतिशील रही है। भारत के प्राचीन वैद्यों में धन्वन्तरि का स्थान सर्वोपरि है। 'धन्वन्तरि निघण्टु' नामक प्रसिद्ध वैद्यक-ग्रन्थ इन्हीं की कृति मानी जाती है।

धन्वन्तरि ने रोगों के निदान और औषधियों के अनुसन्धान में अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया था। वह महान् शोधक एवं प्रयोगकर्ता थे। परम विद्वान्, साहसी, आविष्कारक, दयालु और धर्मात्मा थे। उनके द्वारा आविष्कृत औषधियां कठिन रोगों पर भी तत्क्षण प्रभाव करने वाली होती थीं। अपने लोक-

कल्यांणकारी महान् कार्यों के कारण धन्वन्तरि को जनता और शासक परम श्रद्धा और भक्ति-भाव से देखते थे। फलस्वरूप धन्वन्तरि को 'भगवान्' की उपाधि से विभूषित किया गया था। उन्हें विष्णु के चौबीस अवतारों में से इक्कीसवां माना गया था। दीपावली के त्योहार के अवसर पर चतुर्दशी के दिन वैद्य-समाज में इनके चित्र पर श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। वे वैद्य-समाज के चिकित्सा के क्षेत्र में परम उपास्यदेव हैं।

धन्वन्तरि द्वारा प्रवर्तित भारतीय चिकित्सा-पद्धति को अपनी वैज्ञानिक श्रेष्ठता और प्रभावपूर्ण उपादेयता के कारण अरब लोगों ने सीखा और अरब से कालान्तर में वह यूरोप में प्रचलित हुई। यह ऐतिहासिक तथ्य है। यही कारण है कि भारतीय वैद्यक-शास्त्र का एलोपैथिक औषधि-विज्ञान पर प्रभाव पाया जाता है।

क्षपणक

'क्षपणक' शब्द का अर्थ है—जैन यति। इस पर से जैन विद्वानों की धारणा है कि प्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही क्षपणक बनकर विक्रमादित्य की सभा में प्रविष्ट हुए थे। इनका एक नाम कुमुदचन्द्र भी मिलता है। यह जन्मत: वैदिक-धर्मी ब्राह्मण थे। इनकी जन्मभूमि गुजरात थी और विद्याभूमि अवन्ती देश। वृद्ध वादिसूरि के प्रभाव से ये जैन-धर्मानुयायी बन गये थे।

क्षपणक ने सर्वप्रथम अनेक स्तोत्रों की रचना की। इन स्तोत्र-समूह का नाम 'कल्याण मन्दिर स्तव' रखा था। श्वेतांबर सम्प्रदाय की 'खरतरगच्छ पट्टावलि' से पता चलता है कि क्षपणक महावीरजी के निर्वाण-प्राप्ति के ४६७ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् पू० ५७ में उज्जयिनी में विद्यमान थे।

क्षपणक के रचे हुए 'न्यायावतार', 'दर्शनशुद्धि', 'सम्मति-तर्कसूत्र' और 'प्रमेयरत्नकोष' नामक चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

इनमें से 'न्यायावतार' नामक ग्रंथ अपूर्व है। यह अत्यंत लघु ग्रंथ है, किन्तु इसे देखकर गागर में सागर की कहावत चरितार्थ होती है। ३२ श्लोक के इस काव्य में क्षपणक ने सारा जैन न्यायशास्त्र भर दिया है। 'न्यायावतार' पर चन्द्रप्रभसूरि ने 'न्यायावतार निवृत्ति' नाम की एक विशद टीका लिखी है।

अमरसिंह

संस्कृत में 'नामलिंगानुशासन' नाम का जो एक कोश है, संस्कृत विद्यारम्भ करते समय प्रायः सभी विद्यार्थी उसे कण्ठस्थ करते हैं। इस कोश का नामान्तर 'अमरकोश' भी है। यह 'अमरकोश' अमरसिंह द्वारा बनाया गया है।

इनके नामान्त में सिंह' शब्द होने के कारण इनका जन्म से क्षत्रिय होना बतलाया जाता है, किन्तु इनका जन्म किसी बौद्ध धर्मानुयायी माता-पिता के गर्भ से हुआ था और ये अपने जीवन के बहुत समय तक बौद्ध-धर्मानुयायी रहे थे। तदुपरान्त इन्होंने जैन-धर्म को स्वीकार कर लिया था। कोशकार के नाते अमरसिंह का नाम संस्कृत साहित्य में निःसंदेह अमर रहेगा।

अमरसिंह का समय स्थिर करने का प्रयत्न अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, किंतु उनमें से कनिंगहम का प्रयत्न महत्त्व का है। बुद्धगया में भगवान गौतम बुद्ध का एक अति प्राचीन मंदिर है, जिसका निर्देश हुएनत्सांग ने अपने भारत-यात्रा विवरण में किया है। मन्दिर के शिलालेख में लिखा है कि इस मन्दिर का निर्माण अमरदेव ने, जो कि राजा विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में परिगणित है, किया। इस लेख में संवत् भी लिखा है, जिसको मिस्टर वुड्लिकन्स ने वि० सं० १०१५

अर्थात् ई० सन् ६५६ पड़ा है। जनरल कनिंगहम के मतानुसार वुइलिकन्स का यह पढ़ना गलत है; क्योंकि अमरदेव (अमरसिंह) के रचित अमरकोश का अनुवाद चीनी भाषा में इसके ४०० वर्ष पूर्व अर्थात् ई० सं० ५६१ के लगभग हो चुका था। कनिंगहम का मन्तव्य है कि उपर्युक्त मन्दिर के शिलालेख में लिखी संवत्-संख्या बराबर नहीं पढ़ी जाती है। तो भी वह अवश्य ऐसी कुछ होनी चाहिए जो कि ईसा के एक शतक पूर्व में ही बैठती हो।

अमरसिंह का 'अमरकोश' तथा 'एकाक्षर नाममाला' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं; किन्तु अनुमान है कि इनके रचे हुए और भी ग्रन्थ हैं, 'अमरकोश' अपने नामानुसार 'अमरकोश' है। इसके 'त्रिकाण्ड' और 'नामलिंगानुशासन' और भी दो नाम हैं। भारतीय कोश-ग्रन्थों में यह अपना सानी नहीं रखता। इसकी लोकप्रियता भी अनन्य है। इसकी अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं, जिनमें से ३५ टीकाएं प्रसिद्ध हैं। यहां पर यह बता देना आवश्यक होगा कि इसके टीकाकारों में सुभूतिचन्द्र जैसे बौद्ध, आशाधर जैसे जैन और क्षीरस्वामी जैसे ब्राह्मण पंडित थे। इससे इस ग्रन्थ की सर्वमान्यता सिद्ध होती है :

'अमरकोश' की रचना के समय अमरसिंह बौद्धधर्म के अनुयायी बन गये। इस बात को 'अमरकोश' का मंगलाचरण ही प्रमाणित कर देता है; क्योंकि उस मंगलाचरण में देवताओं की नाम-गणना में सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के १८ नामों की शृंखला प्रस्तुत की गयी है।

अमरसिंह का उत्तम कवि होना भी सिद्ध होता है। किन्तु जिसे काव्य कह सकते हैं, ऐसी इनकी एक भी कृति उपलब्ध नहीं है; किन्तु सूक्ति-संग्रहों में कहीं-कहीं इनकी काव्यबद्ध उक्तियां अवश्य मिलती हैं। बोपदेव के 'शब्द-कल्पद्रुम' से अमरसिंह का वैयाकरणाचार्यों में भी स्थान होना पाया जाता है।

शंकु

कहा जाता है कि यशस्वी शिक्षाचार्य के नाते विक्रमादित्य के नवरत्नों में इनको सम्मान-पद दिया गया था। विद्वानों का कथन है कि इनका वास्तविक नाम शंकुक था, किन्तु नवरत्न वर्णन के श्लोक की सीमित पद-योजना में अन्तिम अक्षर को स्थान न मिलने के कारण इनका नाम शंकुक के बजाय शंकु हो गया।

मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में एक शंकुक की प्रशंसा की है, जो अलंकार-शास्त्र के उद्भट विवेचक थे। कल्हण की 'राजतरंगिणी' में भी एक शंकुक कवि का वर्णन मिलता है, जिन्होंने 'भुवनाभ्युदयम्' काव्य की रचना की थी। अनुमान है कि ये 'भुवनाभ्युदयम्' काव्य के कर्ता शंकुक, 'सूर्यशतक' प्रणेता मयूर के सुपुत्र होंगे। विक्रमादित्याश्रित शंकु के विषय में अधिक प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। उनसे सम्बन्धित बहुत कम जानकारी प्राप्त है और जो कुछ प्राप्य है, वही वहां दी जा रही है। यह अवश्य है कि उनका नाम विक्रमादित्य के 'नवरत्नों' में सम्मानपूर्वक सम्मिलित है और वह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रमाणित होते हैं।

...OL SCHOOL
LIBRARY
...DHYA NAGAR

वेताल भट्ट

संस्कृत भाषा के कथा-साहित्य में इनकी रचनाएं 'वेताल पच्चीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' नामक कहानी-संग्रह बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में इनके अनुवाद लाखों की संख्या में छपकर अत्यन्त लोकप्रिय हो चुके हैं। इन पुस्तकों की कहानियों का सम्बन्ध वेताल और विक्रम की श्रृंखलाबद्ध रोचक घटनाओं से है। इन कथाओं का उद्‌गम-स्थान गुणाढ्य की पैशाची भाषा में लिखित 'बृहत्कथा-मंजरी' है, जिसका रचना-काल ईसवी सन् की चौथी शताब्दी बताया जाता है।

लोकप्रिय दंतकथाओं के अनुसार विक्रमादित्य के जीवन से वेताल का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध हुआ है। वेताल का लिखा हुआ एक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसका नाम 'नीति प्रदीप' है। वेताल के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं हुए हैं।

घटखर्पर

विक्रमादित्य के राजसभा के जो नवरत्न प्रसिद्ध हैं उनमें घटखर्पर के रचे हुए दो छोटे संस्कृत काव्य हैं—एक 'नीतिसार' और दूसरा 'घटखर्पर काव्यम्'।

'नीतिसार' अपने नाम के अनुसार नीति-सम्बन्धी २१ श्लोकों का काव्य है। इसी प्रकार २२ पद्यों का घटखर्पर काव्यम् भी सुन्दर रचना है। जिस प्रकार कालिदास का 'मेघदूत' काव्य विप्रलम्भ श्रृंगार के भावों से परिपूर्ण है, उसी प्रकार 'घटखर्पर काव्यम्' संयोग-श्रृंगार से ओत-प्रोत है।

संस्कृत की काव्य-कृतियों में 'घटखर्पर काव्यम्' एक अनूठी कृति मानी गई है। इसके संस्कृत पद्यों में पादान्त यमक रखा गया है। प्राचीन ग्रन्थ-सूची में घटखर्पर को गुप्त-धन-शास्त्र का ज्ञाता बताया गया है। घटखर्पर को प्रामाणिक जीवनी अज्ञात समझ ली गयी है।

इनका वास्तविक नाम कुछ और ही था। कहा जाता है कि इनका घटखर्पर (या घटकर्पर) जैसा अनगढ़ नाम यों पड़ा कि कालिदास के सहवास में ये भी कवि बन गए थे। उन्होंने एक समय ऐसी प्रतिज्ञा घोषित की थी कि 'यमक' में जो कवि मुझे पराजित कर देगा, उसके घर में फूटे घड़े से आजीवन

पानी भरा करूंगा। इसी विचित्र प्रतिज्ञा से इनका नाम घट-खर्पर हो गया। इस पर कवि कालिदास ने 'नलोदय' नामक काव्य रचकर यमक में घटखर्पर को परास्त कर दिया। पर नलोदय के निर्माता कालिदास वही प्रसिद्ध 'रघुवंश' आदि के रचियता हैं या उनसे भिन्न हैं, इसका ठीक पता नहीं है। यदि घटखर्पर महाकवि कालिदास के समकालीन और विक्रमादित्य के सभारत्न रहे हों तो इनका समय सन् ईसवी से ५७ वर्ष पूर्व मानना पड़ेगा, परंतु यह बात संदेहयुक्त है।

वररुचि

विक्रमादित्य और कालिदास के समान वररुचि भी एक से अधिक हो गए हैं और आश्चर्य की बात यह है कि वे सभी वैयाकरण थे।

सबसे प्राचीन वररुचि वे थे, जो महानन्दि राजा के समय ईसा-पूर्व ४०० में हो गए हैं और जिनकी पाणिनीय सूत्रों के वार्तिककार कात्यायन के नाम से विशेष प्रसिद्धि है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में इन्हीं का उल्लेख किया है और 'भविष्यपुराण' तथा 'कथासरित्सागर' में इन्हीं की कथाएं लिखी हुई हैं। इनके अनेक व्याकरण-ग्रन्थ हैं, जिनमें से पाली भाषा का व्याकरण सर्वप्रसिद्ध है।

वल्लाल-रचित 'भोज-प्रबंध' में एक वररुचि बतलाए गए हैं, जो भोज राजा के सभा-पंडित थे। इन्हीं का उल्लेख हलायुध की 'अभिधानरत्न-माला' में कोशकार के नाते किया गया है।

विक्रमादित्य के सभारत्न वररुचि इन तीनों वररुचि से भिन्न हैं और वे इन तीनों के समय के बीच में कभी हो गए हैं। 'प्राकृतप्रकाश', 'पत्र-कौमुदी', 'शब्द-लक्षण' आदि रचनाएं विक्रमादित्य कालीन वररुचि की मानी जाती हैं।

अधिकतर प्रसिद्ध इतिहासकारों ने इनका समय ईसा-पूर्व

प्रथम शताब्दी स्थिर किया है।

सोमदेव-रचित 'कथासरित्सागर' में आख्यायिका दी गई है कि वररुचि की कही हुई कथाएं काणभूति से सुनकर प्रतिष्ठानपुर के राजा शालिवाहन के सभा-पंडित गुणाढ्य ने उस पर से वृहत्कथा नामक ग्रन्थ की रचना की। उनका शालिवाहन और विक्रमादित्य के समय में होना स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त स्वयं वररुचि ने भी अपनी पत्र-कौमुदी में लिखा है—

"विक्रमादित्य भूपस्य कीर्तिसिद्धेनिदेशतः।
श्रीमान्वररुचिर्धी मास्तनीति पत्रकौमुदीम्।"

इससे सिद्ध होता है कि वररुचि ने विक्रमादित्य के आश्रित होकर उनकी विशेष आज्ञा से ही पत्र-कौमुदी की रचना की थी। इस कौमुदी में चिट्ठी-पत्री लिखने की पद्धति का संग्रह किया गया है।

वररुचि का दूसरा ग्रन्थ 'प्राकृत प्रकाश' है। यह व्याकरण का एक नामी ग्रन्थ है। इसमें महाराष्ट्री शौरसेन, मागधी और पैशाची—इन चार मुख्य प्राकृत भाषाओं का विवरण है। इस ग्रन्थ पर से प्राकृत वैयाकरणों में वररुचि को वह सम्मान दिया जाता है, जो संस्कृत वैयाकरणों से पाणिनि को दिया गया है। 'प्राकृत प्रकाश' पर भामह की टीका प्रसिद्ध है।

□ □

विक्रमादित्य और उनके नवरत्न

आर्य प्रकाशन मंडल
सरस्वती भण्डार, गांधीनगर, दिल्ली-110031